

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_I 180170

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H89481309**
R13A Accession No. **H3430**
Author **रेडी, वाकशौरि.**
Title **आन्द्य-भारती. 1959.**

This book should be returned on or before the date last marked below.

आन्ध्र-भारती

[आन्ध्र-वाङ्मय पर हिन्दी
की अद्वितीय समीक्षा पुस्तक]

श्रीबालशौरि रेड्डी

कला-निकेतन

पटना-४

प्रकाशक :

नागरी-प्रकाशन प्राइवेट लि०

द्वारा कला-निकेतन, पटना-४

संस्करण :

प्रथम

मई, १९५६ ई०

मूल्य :

आठ रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक :

नागरी-प्रकाशन प्राइवेट लि०

द्वारा युगान्तर प्रेस, पटना

लेख-सूची

लेख			पृष्ठाङ्क
तेलुगु काव्य-साहित्य ✓	...	...	१
तेलुगु-कहानी : एक अध्ययन ✓	...	...	१०
तेलुगु-उपन्यास ✓	...	...	२०
तेलुगु-रङ्गमञ्च ✓	...	...	३१
तेलुगु का समीक्षा-साहित्य ✓	...	...	४१
तेलुगु के सन्त कवि	...	...	५१
तेलुगु-साहित्य के निर्माता : कवित्रय	...	...	७१
आन्ध्र-कविसार्वभौम श्रीनाथ	...	...	८२
आन्ध्र-मीरा मौल्लाम्बा	...	...	१०७
वाग्गेयकार क्षेत्रय्या	...	...	११५
भक्त रामदास	...	...	१२६
अन्नमय्या	...	...	१३५
भक्तशिरोमणि श्रीत्यागराज	...	...	१४१
महाकवि कृष्णदेवराय	...	...	१५२
युगनिर्माता वीरेशलिङ्गम्	...	...	१६६
श्रीगुरजाड अप्पाराव	...	...	१७६
‘कला-प्रपूर्णा’ श्रीवेदुमु वेङ्कटराय शास्त्री	...	...	१८६
तेलुगु के अत्याधुनिक कवि	...	...	१९३
तेलुगु-लोकगीतों में सामाजिक भावना	...	...	२०७

तेलुगु-काव्य-साहित्य

तेलुगु-भाषा आन्ध्र-प्रदेश की भाषा है। वर्तमान आन्ध्र-राज्य के अलावा यह भाषा हैदराबाद, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, मैसूर तथा मद्रास-राज्यों के थोड़े-थोड़े भागों में बोली-समझी जाती है। सब मिलाकर इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या लगभग चार करोड़ है। यह भाषा द्राविड-परिवार की है, किन्तु संस्कृत और प्राकृत-भाषाओं से अधिक प्रभावित है। डॉ० नारायणराव के मतानुसार यह आर्य-परिवार की भाषा मानी जाती है।

यों तो, आन्ध्र का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है, पर उसका यथार्थ अस्तित्व ई० पूर्व पाँचवीं सदी से प्रकट होता है। सातवाहन-चक्रवर्तियों के साथ ही आन्ध्र-देश का इतिहास प्रारम्भ होता है और मेगास्थनीज के वृत्तान्त से आन्ध्रवासियों के अस्तित्व एवं महत्त्व की पुष्टि होती है।

आन्ध्र-प्रदेश श्री, शैल, द्राक्षाराम और कालहस्ती नामक तीन प्रसिद्ध शिवलिंग-क्षेत्रों के बीच में होने के कारण इस प्रदेश का नाम त्रिलिङ्ग-देश हुआ। बाद में यही शब्द बिगड़कर तैलंग, तेलंग, तेलुगु हो गया। आन्ध्र शब्द पहले राजा के भाव में प्रयुक्त हुआ, कालान्तर में वह देश और भाषा के भाव में प्रयुक्त होने लगा। इससे भिन्न तेलुगु-शब्द पहले देश के भाव में व्यवहृत हुआ, फिर प्रान्त और भाषा के भाव में।

तेलुगु-भाषा अत्यन्त मधुर होती है। तेलुगु-शब्द का दूसरा रूप 'तेनुगु' भी है। 'तेन' अर्थात् 'मधु' और 'अगु' अर्थात् 'होना', यानी मधु-जैसी मधुर। राजा कृष्णदेवराय के शब्दों में तेलुगु देशी भाषाओं में सर्वोच्च भाषा है। इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमें स्वर-प्रधान संगीत और वर्ण-प्रधान साहित्य का सुन्दर समावेश है। इसलिए, इसकी न केवल देश के विद्वानों ने ही प्रशंसा की, बल्कि विदेशी विद्वानों ने भी की है। सी० पी० ब्राउन के विचार से तेलुगु 'पूर्व की इतालियन भाषा' है।

तेलुगु-साहित्य का प्रारम्भ ईसा से पूर्व ही हो गया था। मोटे रूप में तेलुगु-साहित्य को निम्नलिखित कालों में बाँट सकते हैं—

१. अज्ञात युग : ई० पू० २८ से ई० सन् १००० तक
२. भाषान्तरीकरण या कवित्रय-युग : १००१—१३५० तक
३. सन्धि-युग या श्रीनाथ-युग : १३५१—१५०० तक
४. प्रबन्ध-युग या रायल-युग : १५०१—१७०० तक
५. दक्षिणदेश-वाङ्मय-युग : १७०१—१९०० तक
६. आधुनिक युग : १९०१ से आज तक

अज्ञात युग : ई० पू० २८ से ई० सन् १००० तक

इस काल का साहित्य हमें उपलब्ध नहीं। इस समय जैन, बौद्ध तथा वैदिक धर्मों के बीच संघर्ष रहा, अतः जो कुछ भी साहित्य रचा गया या मौजूद था, सब धार्मिक विद्वेषों के कारण नष्ट कर दिया गया। इसके अलावा उस समय आन्ध्र में संस्कृत और प्राकृत की तूती बोल रही थी। तेलुगु (देशी भाषा) में रचना अपमान की भाषा समझी जाती थी। देशी भाषा का आदर था नहीं। परन्तु उस समय जो पद और ग्राम-गीत बने, वे जनता की जबान पर रह गये। उस समय के जो तीन शिला-लेख मिले हैं, उनसे पता चलता है कि उस युग में भी साहित्य लिखा गया। उन शिला-लेखों में विजयवाड़ा के युद्धमल्लु शासनमु और गुणग विजयादित्य के शिला-लेख अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। परन्तु उस समय का सारा साहित्य नष्ट हो चुका है, अतः इस युग को अज्ञात युग कहना स्वाभाविक ही जँचता है।

आभान्तरीकरण या कवित्रय-युग : १००१-१३५०

इस युग में राजमहेन्द्री, नेल्लुर, नन्धाल, वरंगल, अर्द्धकि आदि प्रदेशों के राजदरबारों में कविता फलती-फूलती रही। कवि नत्रय भट्ट ने संस्कृत-महाभारत का आन्ध्रानुवाद प्रारम्भ किया। इसमें कवि ने ऐसा चमत्कार दिखलाया है कि वह मौलिक ग्रन्थ-सा लगता है। उस समय आन्ध्र में वैदिक धर्म के प्रति लोगों की रुचि कम होती जा रही थी। नत्रय ने पुनः जनता की श्रद्धा इस ओर बढ़ाई। इस कवि के अन्य ग्रन्थों में 'आन्ध्र-शब्द-चिन्तामणि', 'इन्द्रसेनविजयमु', और 'चामुण्डिकाविलासमु' मुख्य हैं।

कवि नत्रय महाभारत के अरण्य-पर्व के कुछ अंश तक का ही अनुवाद कर पाये थे कि उनका देहान्त हो गया। उनके बाद महाकवि तिव्कना ने विराट् पर्व से लेकर शेष पर्वों का अनुवाद किया, तो कवि एरी प्रगेडा ने अरण्य-पर्व का शेषांश लिखा। इन तीनों महाकवियों ने संस्कृत-महाभारत का अनुवाद पूरा कर आन्ध्र-भारती को एक अमूल्य रत्न भेंट किया। ये ही तीनों कवि 'कवित्रय' के नाम से आन्ध्र-साहित्य में विख्यात हैं। कवियों की अन्य रचनाओं में तिव्कना की 'विजयसेना' और एरेना (एरी) का 'नृसिंहपुराण' अत्यन्त ख्यातिप्राप्त है।

एक ओर कवित्रय महाभारत के अनुवाद में लगे रहे, तो दूसरी ओर वीर शैव धर्म का आश्रय लेकर पालकुरिकि सोमनाथ कवि ने देशी साहित्य का श्रीगणेश किया। इनके ग्रन्थों में 'पण्डिताराध्य-चरित्रमु' और 'वसव-पुराणमु' अत्यन्त प्रधान हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने देशी शब्द छन्द द्विपदा का प्रयोग किया है। इन्होंने 'वृषाधिप-शतकमु' लिखकर शतक-साहित्य का भी शुभारम्भ किया। ये कन्नड़-भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस समय की अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में वेमुलवाड भीम कवि का 'राघव-पाण्डवीयमु', 'नृसिंहपुराण' और 'कविजनाश्रयमु' उल्लेखनीय हैं। ये चाटूक्तियाँ लिखने में भी

सिद्धहस्त थे। इस समय के अन्य कवियों में श्रीनन्नेचोड़ कवि का कुमारसम्भव, विन्नकोट पेह्ना का काव्यालङ्कारचूडामणि, मारना का मार्कण्डेयपुराण, केतना का दशकुमारचरित्रमु, गोनबुद्धा का रङ्गनाथ-रामायणमु, नाचन सोम का उत्तरहरिवंश और वसन्तविलासमु, एवं पंच कवि-रचित भास्कर रामायणमु इस युग के उत्तम काव्य-रत्न हैं।

इस युग में अनुवाद-कार्य की प्रधानता रही। कवित्रय इस युग के प्रतिनिधि कवि थे, इसलिए इस युग का नामकरण कवित्रय-युग या अनुवाद-युग किया गया है।

सन्धि-युग या श्रीनाथ-युग : १३५१ — १५००

सन् १५०२ ई० से जो युग प्रारम्भ होता है, उसकी पृष्ठभूमि कवित्रय-युग में लिखित नन्त्रय के भाषानुवाद के उद्यम, महाकवि तिकना की प्रबन्ध-पद्धति, नाचन सोम कवि के नवीन गुण-प्रदर्शन तथा अन्य प्रतिभाओं के रूप में भली भाँति बन चुकी थी। इसीलिए, इसे सन्धि-युग कहते हैं।

इस युग के महाकवियों में श्रीबम्मरपोतन्ना और श्रीनाथ कवि मुख्य हैं। इस युग के काव्यों में मड़िकि सिगना के वसिष्ठपुराण, और भागवत दशमस्कन्ध, जक्य कवि का विक्रमार्कचरित्र अनन्ता-मात्य के भोजराजीयमु, रसाभरणमु और अनन्तुनि चन्द्रस्सु, गौरन मन्त्री के/हरिश्चन्द्रोपाख्यान और नवनाथचरित्र, निश्शङ्क काम्भना का शिवलीलाविलासमु, दूभगुष्ट नारायण कवि का पंचतन्त्रमु, वेन्नेलङ्कटि सूरना का विष्णुपुराण, नन्दिमल्लय्या का प्रबोध-चन्द्रोदयमु, घष्टसिगय्या का वराहपुराणमु, पिल्ललमरि पिनबीरना के शृङ्गार-शाकुन्तलमु, जैमिनी-भारतमु, नारदीयपुराणमु, और अवतारदर्पणमु, दग्गुपल्लिदुगय्या के नाचिकेतोपाख्यान और कांचीपुर-महात्म्यमु प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों ने इस युग की महत्ता बढ़ाई, किन्तु सबसे अधिक यह युग कवि पोतन्ना की कृतियों पर गर्व करता है।

बम्मरपोतना महाकवि ही नहीं, महान् भक्त भी थे। इन्होंने ४ कृषि-कार्य के साथ काव्य-सर्जन भी किया। ये सदा भगवद्भजन

में लगे रहते थे । इन्होंने तेलुगु में महाभागवत का अनुवाद किया और उसे अपने आराध्य देव श्रीरामचन्द्र के चरणों में समर्पित किया । यौवन-काल में इन्होंने 'भोगिनी-दण्डकम्' नामक एक शृङ्गार-रसप्रधान पुस्तक लिखी थी । इनकी भक्ति दास्य-भावना की है और महाकवि तुलसीदास से इनकी तुलना की जा सकती है । इनके अन्य ग्रन्थों में 'वीरभद्रविजयम्' और 'शतकम्' मुख्य हैं ।

पोतन्ना के साले श्रीनाथ कवि को ग्रान्धवासी शृङ्गार-रस के सम्राट् के रूप में अधिक जानते और मानते हैं । यह तेलुगु-साहित्य के 'बिहारी' हैं और अनेक विषयों में तो ये उनसे भी आगे हैं । ये तेलुगु, कन्नड़ और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित एवं कवि थे । रेड्डी-राजाओं के दरबार में श्रीनाथ कवि का अच्छा सम्मान था । अपनी कविताओं से रेड्डी-राजाओं को सन्तुष्ट करके इन्होंने अनेक उपाधियाँ पाईं, और वहाँ इनका 'कनकाभिषेक' भी हुआ । ये अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण जितने राजदरबारों में गये, सब जगह अच्छा सम्मान मिला । इनका यौवन-काल भोग-विलास में बीता, परन्तु, बुढ़ापे में इनकी अब्दुलरहीम-जैसी गति हुई । अपनी दयनीय स्थिति को महाकवि ने अत्यन्त करुण शब्दों में व्यक्त किया है । अकेला शृङ्गार-नैषध-महाकाव्य ही श्रीनाथ कवि को महाकवि के आसन पर प्रतिष्ठित कराने में समर्थ है । भीमखण्ड पलनाटि-वीरचरित्र, कीडाभिरामम्, शिवरात्रि-माहात्म्यम्, मस्तराटचरित्र और हरिविलासम्, इनके अन्य काव्य-ग्रन्थ हैं । समय-समय पर बनाई गई चाटूक्तियाँ भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

प्रबन्ध-युग या रायल-युग : १५०१—१७००

तेलुगु-साहित्य के इतिहास में रायल-युग स्वर्ण-युग माना जाता है । राजाकृष्णदेवराय के समय विजयनगर साहित्य का बहुत बड़ा केन्द्र हो गया था । राजाकृष्णदेवराय कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं महाकवि भी थे । इनका 'आमुक्त मालयदा' महाकाव्य साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ एवं उन्नत काव्य माना जाता है ।

इनके दरबार में अष्ट दिग्गज नाम के आठ कवि थे। इनमें 'आन्ध्र कविता-पितामह' नामक उपाधि से विभूषित अल्लसानि पेद्दना अत्यन्त मुख्य हैं। इनके 'स्वारोचिष मनुसम्भव' (मनु-चरित्र) प्रबन्ध-काव्य पर मुग्ध होकर कृष्णदेवराय ने इन्हें 'आन्ध्र-कविता-पितामह' नामक उपाधि से केवल गौरवान्वित ही नहीं किया, बल्कि इनके पैर में गण्ड पेण्डेरे' नामक स्वर्ण-कंकण भी पहनाया। महाकवि अल्लसानि पेद्दना पर आन्ध्र को गर्व है।

१ इस युग के प्रमुख कवियों में नन्दि तिम्म कवि, तेनालि रामकृष्ण, अप्पल पिंगलि सूरना, रामभद्र कवि, भट्ट मूर्ति, तृप्तिह कवि आदि मुख्य हैं। इनके अलावा नादेडल गोप्पन्ना, राधामाधव कवि, कुम्मरि मोल्लाम्बा, मल्लारेड्डी, रामराजभूषण, तम्मद्व्या, पिडुपति सोमनाडुडु अर्द्धकि, गज्जा घट कवि आदि अनेक कवि हुए हैं। काव्य के लक्षणों की दृष्टि से इस युग में लिखी गई प्रबन्ध-जैसी रचनाएँ तेलगु-साहित्य को फिर उपलब्ध नहीं हो सकीं। कलापूर्णोदयमु, प्रभावती-पद्मसुम्नमु, राघवपाण्डवीयमु, वसुचरित्र, राधामाधवमु, पाण्डुरङ्गमाहात्म्यमु, कालहस्तीमाहात्म्यमु पारिजातापह-रणमु, राधामाधवमु, हरिश्चन्द्रोपाख्यानमु, उद्भटरायचरित्र और मल्ल-रामायण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इस युग में लक्षण-ग्रन्थों का भी प्राविर्भाव हुआ और इस युग की सबसे बड़ी देन मोल्लाम्बा है। इनकी रामायणकी प्रायः इस युग के सभी बड़े कवियों ने प्रशंसा की है। उस काव्य को तेलगु-साहित्य में आज भी अनूठा स्थान प्राप्त है।

दक्षिणदेश वाङ्मय-युग : १७०१—१६००

१ विजयनगर-साम्राज्य के पतन के उपरान्त वह साम्राज्य अनेक टुकड़ों में बँट गया और सामन्त ही उनके अधीश्वर बन बैठे। ऐसे केन्द्रों में मदुरा, तंजाउर (तंजौर), पुदुकोटा, पिठापुरम्, बोम्बलि, वेजयनगरम् (विशाख जिला), चन्द्रागिरि और पेनुगोंडा मुख्य हैं। इन केन्द्रों में तंजाउर और मदुरा के राजदरबारों में तेलगु-कविता का खूब विकास हुआ। कुछ समालोचकों के अनुसार, चूँकि इस युग में उल्लेखनीय

योग्य रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई हैं, इसलिए इसका नामकरण क्षीण-युग किया जाना चाहिए।¹ परन्तु सच पूछा जाय, तो इस युग में भी कम साहित्य की सृष्टि नहीं हुई। हाँ, कृष्णदेवराय की तुलना में अवश्य ही इस युग में कम साहित्य का निर्माण हुआ है।² राजा कृष्णदेवराय को 'आन्ध्र-भोज' कहा गया है। उनके बाद तंजाउर में उसी वंश के श्रीरघुनाथराय ने भी साहित्य और कला का अच्छा पोषण किया।³ ये संगीत, काव्य एवं नृत्य के प्रेमी थे। इन तीनों प्रकार के कलाकारों के लिए इनके दरबार में आदर था। यह राजा कृष्णदेवराय की तरह कवि ही नहीं, संगीत के भी पारंगत थे। संगीत-विद्या में इनके प्रवीण होने का सबल प्रमाण इनकी 'संगीत-सुधा' और 'रामायण' मुख्य हैं।⁴ इनके दरबारी कवियों में चेमकूर वेङ्कटपति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये तेलुगु और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'विषयविलासमु' तेलुगु-शृङ्गार-साहित्य की एक निधि है। यह एक उत्तम श्लेष-काव्य है।

¹ राजा रघुनाथराय के दरबार में कवि ही नहीं, कवयित्रीयाँ भी थीं। इनकी रामबद्राम्बा और मधुरवणी ने अनेक उत्तम एवं प्रौढ़ काव्यों की रचना करके बड़े-बड़े पण्डितों को चकित कर दिया था। गोविन्द दीक्षितुलु इनके दरबार के बड़े संगीताचार्य माने जाते हैं।

राजा रघुनाथ संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत में भी पुस्तकें लिखी हैं। इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो अनेक कवियों ने अपनी रचनाएँ इन्हें समर्पित की हैं।⁵ इनके दरबारी कवियों द्वारा रचित अनेक काव्यों में 'मन्नारुदासविलासमु', 'रघुनाथाभ्युदयमु', 'राजगोपाल-विलासमु' 'उषापरिणयमु' विप्रनारायणचरित्रमु', 'सत्यभामा स्वान्तनमु' 'शाङ्कर विजयमु' और 'आन्ध्रभाषार्णवमु' मुख्य हैं।⁶

⁷ इनके अलावा मुद्दपलिनी (कवयित्री) का राधिकास्वान्तनमु अन्य कवियों की रुक्मिणी-परिणयमु, रामविलासमु, कविजन-रंजनमु, अनिरुद्धचरित्र, गोपीनाथरामायणमु भारताभ्युदयमु, आन्ध्र-

चन्द्रालोकम् आदि काव्य भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। और भी, अनेक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ आज भी तंजावर-स्थित 'सरस्वती-महल' में शीर्ण हो रही हैं।

आधुनिक युग : १९०१ से आज तक

' इस युग में यों तो साहित्य की सभी शाखाओं की उन्नति हुई, किन्तु प्रमुख रूप से सभी प्रकार के काव्य, खण्ड-काव्य, महाकाव्य, चम्पू, गीत, पद आदि लिखे गये हैं।' इस युग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का परिचय देने लगे, तो मोटे-मोटे ग्रन्थ ही तैयार हो जायँ, अतः हम युग के प्रतिनिधि कवियों तथा प्रमुख काव्यों का परिचय देकर ही सन्तोष करेंगे।

'राष्ट्रीय भावों और आन्दोलनों के कारण देश में जो राजनीतिक और सामाजिक नवजागरण हुआ, उसका प्रभाव यहाँ के साहित्य पर स्पष्ट लक्षित है। राष्ट्रीय भावनाओं के आधारभूत साहित्य में गाँव, कृषक, मजदूर, हमारे जातीय आचार, प्राचीन भारत और आन्ध्र का प्राचीन वैभव कथावस्तु रहे। इनके अलावा आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, विप्लव आदि का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ा। कथावस्तु, छन्द, अलङ्कार आदि में भी परिवर्तन दिखाई देता है। यूरोपीय साहित्य और बंगला से भी तेलुगु-साहित्य प्रभावित है। पुरानी कथावस्तु का नये दृष्टिकोण से चित्रण हुआ है। पौराणिक कथानकों में भी आधुनिकता का प्रभाव है—भाषा-भाव, वेष-भूषा आचार-विचार सबका प्रभाव है। हाँ, तेलुगु-साहित्य में हिन्दी-साहित्य के जैसे वाद नहीं चले। श्रीगुरुजाड अम्पाराव को इस युग का वैतालिक कह सकते हैं।' यों श्रीवीरेशलिगम्जी ने भी कविता के क्षेत्र में स्तुत्य प्रयत्न किया है, परन्तु वे गद्य-ब्रह्म कहे जाते हैं।' इस युग के प्रसिद्ध कवियों में श्रीमल्लादि सूर्यनारायणशास्त्री, श्रीरायप्रोलु सुंवारारव, नोरि नरसिंहम्, देवलपल्ली कृष्णशास्त्री, दुव्वूरि रामि रेड्डी, स्वामी शिवशङ्करशास्त्री, पार्वतीश्वर कवुलु, काटूरि वेङ्कटेश्वरराय, पिगलि लक्ष्मीकान्तम्, तुम्मल सीताराम

८ मूर्ति चौधरी, जासवा, नायनि सुब्बाराव, नंडूरि सुंवा राव, राजशेखर

शतावधानी, गडियारम वेङ्कटशेष शास्त्री, तल्लावुभुल शिवशङ्करशास्त्री, वेदुल सत्यनारायणशास्त्री, अडवि बापिराजु, वेदुरि प्रभाकरशास्त्री आदि मुख्य हैं। इनके अलावा अनेक अभ्युदयो (प्रगतिशील) कवि हुए हैं। इन पर साम्यवाद का प्रभाव है। इनकी कथावस्तु में किसान, मजदूर, आर्थिक समानता, ये ही चीजें प्रधान हैं। समाज में व्याप्त गरीबी, अत्याचार, निरङ्कुशता, अकाल, अशिक्षा आदि अनर्थों का अच्छा चित्रण — अभ्युदयो कवियों ने किया है। इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि श्री (श्रीरङ्गम् श्रीनिवासराव) माने जाते हैं। श्रीरङ्गम् नारायण बाबू, श्रीसुनकर सत्यनारायण, आरुद्र, आनिशाहि सुब्बाराव, दाशरथि कृष्णमार्चुलु, रामणा रेड्डी, पट्टाभि श्रीनारायण रेड्डी, कालोजी रेंटाल वेल्लभ कोंड रामदास, पुट्टपति आदि उल्लेखनीय हैं।

इस काल का साहित्य इतना समृद्ध है कि भविष्य इससे बढ़कर अच्छा साहित्य प्रदान कर सकेगा, इसमें संदेह है। इस युग के प्रमुख काव्यों में—सौन्दारनन्दम्, हृदयेश्वरी, उर्वशी-प्रवासम्, सौभाद्रनि-प्रणययात्रा, शिवाजी, ऐंकिपाटुलु, कृष्णपक्षम्, पद्मावती, आन्ध्र-प्रशस्ति, शशिदूतम्, श्रीमद्रामायणम्, तृणकंकण कृषि वलुडु, आराधना, फिरदौसी, गर्बिलम्, मुख्य हैं। प्रगतिशील कवि के काव्यों में—महाप्रस्थानम्, रुधिरज्योति, त्वमेवाहम्, रुद्रवीणा, अग्निधारा, आकलिमण्टलु, अग्निवीणा, फिडेल गेयालु उल्लेखनीय हैं।



तेलुगु-कहानी : एक अध्ययन

तेलुगु-साहित्य में लघु-कथा का आरम्भ १६वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। सबसे पहली मौलिक तेलुगु-कहानी आन्ध्र के महाकवि स्वर्गीय श्रीगुरजाड अप्पाराव ने लिखी थी। पर यह कहानी अंगरेजी की एक लघु-कथा के आधार पर लिखी गई थी। इसके पूर्व की जो कहानियाँ हमें तेलुगु-साहित्य में मिलती हैं, वे या तो बड़ी कहानियाँ थीं या संस्कृत से अनूदित अथवा संस्कृत के आधार पर लिखी गई थीं। कथा-सरित्सागर, नीति-चन्द्रिका, विक्रमार्क की कहानियाँ, विनोद-कथा-कल्प-वल्लिनि, चित्रकथा-लहरिनि, चमत्कार-कथा-मंजरि आदि इसी श्रेणी की हैं।

पर तेलुगु-साहित्य में लघु-कथा का श्रीगणेश अप्पारावजी ने ही किया। इनकी कहानियों में व्यंग्य की प्रधानता है। हास्य का पुट देकर इन्होंने कहानियों को इतना सरस बना दिया है कि इनके पात्र चलते-फिरते सजीव चित्रों की भाँति हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इसी में उनकी सफलता है। इनकी कहानियों का संग्रह 'आणि मुत्यालु' (सीपी के मोती) नाम से प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों में 'दिदु-पादु' (सुधार), 'मी पेरेमिटि?' (आपका नाम क्या है?), और 'संस्कर्त हृदय' (संस्कर्ता का हृदय) उल्लेखनीय हैं।

'संस्कर्त हृदय' नामक कहानी में लेखक ने समाज द्वारा उत्पीडित, पशु-नुत्य जीवन बितानेवाली वेश्या का विषादपूर्ण चित्र खींचा है। 'मी पेरेमिटि' कहानी में भगवान् के नाम पर लूटनेवाले धर्माचार्यों की धोखेबाजी की पोल खोली है।

इनकी देखा-देखी अन्य लेखकों ने भी मौलिक कहानियाँ लिखीं। उस समय आन्ध्र के प्रसिद्ध समाज-सुधारक स्वर्गीय श्रीवीरेशलिंगम् पन्तुलु का सुधार-आन्दोलन जोरों पर था। इनके समर्थक श्रीरायसं वेङ्कटशिवु ने साहित्यिक भाषा में हिन्दू-मुस्लिम एकता को लेकर दर्जनों कहानियाँ लिखीं। उस समय इस प्रकार की कहानियों की नितान्त आवश्यकता भी थी।

इनके बाद तेलुगु-कहानी-क्षेत्र में श्रीवेलूर शिवरामशास्त्री आये। शास्त्रीजी ने विद्यार्थी-दशा से ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। संगीत और साहित्य के ये प्रकाण्ड पण्डित हैं। हिन्दी, अंगरेजी, फ्रेंच, बँगला और गुजराती-भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हैं। 'मणिमेखला' नामक सात पर्वों का काव्य इनका कीर्ति-स्तम्भ है। इन्होंने लगभग १०० कहानियाँ लिखी हैं। 'साहित्य-दर्पण', 'ध्वन्यालोक' और 'रसगङ्गाधर' का संस्कृत से तेलुगु में अनुवाद किया। सांख्य, न्याय और वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन करके भाष्य लिखे। पर सन् १९२६ ई० में इनके घर में आग लग जाने के कारण ये सभी ग्रन्थ जल गये। इस घटना से इनका दिल टूट गया। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियाँ छपती रहती हैं।

शास्त्रीजी की शैली सरल, सुबोध और हृदय पर गहरा प्रभाव डालनेवाली है। प्राचीन और नवीन का सुन्दर समन्वय ही इनकी विशेषता है। इनकी कहानियों में भावना को अधिकता, यथार्थता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक है। पात्रों का नख-शिख-वर्णन न करके केवल मनोवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं। शास्त्रीजी कहानी-सम्पाद प्रेमचन्द की तरह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं।

शास्त्रीजी ने भावना-प्रधान पौराणिक तथा सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं। 'कृति' इनकी प्रथम कहानी है। इनकी 'कृति', 'तन्मयता' और 'क्षमार्पण' कहानियाँ बहुत ही प्रिय हैं। इनकी लगभग ५० कहानियाँ 'भारती' नामक तेलुगु-मासिक साहित्यिक पत्रिका में

प्रकाशित हो चुकी है। वैसे कहानियाँ अन्य पत्रों में भी छपी हैं। इनकी कहानियों के 'कथाषट्कम्' और 'कथासप्तकम्' नाम से दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इसी समय बाल-साहित्य के जन्मदाता श्रीचिन्तादीक्षितुलु भी कहानियाँ लिखने लगे। इनका जन्म पूर्व गोदावरी, जिला रामचन्द्रपुरम् तालुके में हुआ। इन्होंने राजमहेन्द्री में बी० ए० तक पढ़ा, फिर मद्रास में एल्० टी० पास किया। तब से डिप्टी इन्स्पेक्टर ऑफ् स्कूल्स रहे। ये अतीतकालीन गौरव के पुजारी हैं। इन्होंने केवल कहानियाँ ही नहीं, बल्कि नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। 'चित्रलेख' इनका तेलुगु में प्रथम जासूसी उपन्यास है। इनके नाटकों में 'शर्मिष्ठा', 'वरूथिनी', 'रेणुका' आदि प्रमुख माने जाते हैं।

अप्पाराव के बाद तेलुगु-साहित्य में लघु-कथा के क्षेत्र में दीक्षितजी प्रमुख हैं। इनकी अधिकांश कहानियाँ 'साहिति' और 'सखी' में प्रकाशित हैं। इन्होंने भावात्मक, वर्णनात्मक और चरित्रप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। बच्चों की कहानियाँ लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। इनके बाल-साहित्य पर खुश होकर आन्ध्र की जनता ने इन्हें 'बाल-वाङ्मय-ब्रह्म' की उपाधि से विभूषित किया। इनकी रचनाओं में हमें विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। हास्य, शृङ्गार और करुण रस के चित्रण अद्वितीय हैं। इनके कई कहानी-संग्रह अबतक छप चुके हैं। कहानी-संग्रहों में 'एकादशी' और 'वटीरावुकथलु' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अलावा इनकी कहानियों में 'गुरुदक्षिणा', 'शिल्पी', 'देवालय-स्तम्भ', 'शिला-प्रतिमा' मुख्य हैं। तेलुगु की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'भारती' में 'बालानन्दम्' नामक शीर्षक के अन्तर्गत इनकी अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं।

ग्राम्य जीवन का चित्रण यों तो कई कहानीकारों ने किया है, पर श्रीकविकोंडल वेङ्कटराव की कहानियों में जो चित्रण मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। लोक-साहित्य और लोक-गीत इन्हें अधिक प्रिय हैं। इस समय राजमहेन्द्री में वकालत के साथ-साथ साहित्य-सर्जन कर रहे हैं।

४० वर्षों से लगातार लिखते जा रहे हैं। अबतक 'पोट्टिकथ' (छोटी कहानी), 'सुमनोहतादिनों' और 'पेनमंचिलि जैन देवुडु' कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरे संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ देवालयों से सम्बन्धित हैं। हाल में इन्होंने 'अभिनव्यान्ध्र कार्यस्थान' नाम से एक ग्रन्थमाला स्थापित की है। इसके द्वारा इनकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करने का प्रबन्ध हुआ है।

तेलुगु-कहानी-साहित्य में चलम् के प्रवेश ने क्या भाषा, क्या भाव सब में क्रान्ति पैदा की। चलम् ने सभी क्षेत्रों में विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। इनका दावा है कि पुरुष के समान स्त्री को भी जब सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त होंगे, तभी हमारा समाज उन्नति कर सकता है। चलम् अच्छे लेखक, कहानीकार, सफल नाटककार एवं आलोचक हैं। यौन-सम्बन्धी अच्छी पुस्तकें लिखने के कारण 'यौन-वाङ्-मय-ब्रह्म' कहलाते हैं।

चलम् का जन्म सन् १८९४ में गुण्टूर, जिला तेनाली, में हुआ। मद्रास में बी० ए०, ए० टी० किया। कुछ समय तक शिक्षा-विभाग में कार्य करते रहे। फिर ट्रेनिङ्ग स्कूल के अध्यापक रहे। इस समय सबसे संन्यास लेकर रमणाश्रम में रह रहे हैं। इनके कहानी-संग्रह हैं—

१. चलमगारि कलम (चलम् की कलम), २. पापम् (पाप), ३. अनसूय, ४. चौ-चौ, ५. भानुमति, ६. रामभक्त, ७. कन्नोटि-कालव (आँसू की धारा), ८. चुक्कम्मा, ९. अष्टम (किस्मत), १०. शावलनि, ११. हंपी कन्याएँ, १२. वाल्लु नलगुरा (वे चारों), १३. वेङ्कटचलम-कथलु हैं। 'अरुण' और 'कल्याणि' इनकी प्रिय कहानियाँ हैं।

स्व० श्रीसुरवरम् प्रताप रेड्डी ने यद्यपि बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं, फिर भी कहानी-साहित्य में इन्हें अच्छा स्थान प्राप्त है। इनको तेलुगु-कहानी-साहित्य का गुलेरी कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इनकी कहानियाँ 'प्रतापरेड्डी-कथलु' नाम से संगृहीत हैं।

‘निरीक्षण’ इनकी उत्तम कहानी है। कुछ आलोचकों का कहना है कि इनकी अन्य कहानियाँ ‘निरीक्षण’ से श्रेष्ठ हैं। इन्होंने तेलुगु-साहित्य की बड़ी सेवा की है। इनका ‘आन्ध्र-लु सांघिक चरित्र’ (आन्ध्रों का सामाजिक इतिहास) इनको अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।

अबतक हमने जितने कहानीकारों का उल्लेख किया है, वे सभी अँगरेजी-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सब पर अँगरेजी, संस्कृत आदि का प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ा ही है। पर तेलुगु-कहानी-साहित्य में एक ऐसे भी व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने सोलहों आने तेलुगु-भाषा, भाव, संस्कृति में ही कहानियाँ लिखीं। ये हैं श्री श्रीपाद सुब्रह्मण्यशास्त्री। इनकी कहानियों में शुद्ध तेलुगु-वातावरण है। इनके परिवार में सभी लोग संस्कृत जानते हैं। उसी भाषा का आदर है। पर अपने पारिवारिक नीति के विरुद्ध शास्त्रीजी ने तेलुगु में कहानियाँ लिखी हैं। इन्होंने करीब ७५ कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें सामाजिक कहानियाँ अधिक हैं। ये व्यावहारिक भाषा के प्रचारक एवं पक्षपाती हैं। इनके शीर्षकों का चुनाव बहुत सुन्दर होता है। कहानी के आरम्भ में ही ऐसा कौतूहल उपजा देते हैं कि पाठक कहानी को पूरा किये बिना नहीं रहता। कहानी में वाक्य छोटे होते हैं, भाषा सरल रहती है। नाटकीय पद्धति पर कथा चलती है। स्केच एवं छोटी कहानियों से बड़ी कहानियाँ लिखने में ये अधिक प्रवीण हैं। समाज की भलाई के लिए ये अपनी रचनाएँ लिखते हैं।

तेलुगु-कहानियों में हास्यरस का अभाव था। उसकी पूर्ति श्रीमुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव ने की। भवसागर को लोग दुःखमय मानते हैं, पर नरसिंहराव ने आनन्दमय माना और अपनी रचनाओं से सिद्ध भी किया। इनको कुछ लोग ‘हास्यचक्रवर्ती’ मानते हैं। इनकी कहानियों में अधिकतर पारिवारिक समस्याएँ ही मिलेंगी। वही इनका क्षेत्र रहा है। इनका कथन है ‘बिना नार्या निष्फला लोकयात्रा’, खी के अभाव में लोकयात्रा निष्फल है। इनका आदर्श है, नीति और आचरण के लिए हृदय ही मार्गदर्शक है। इनकी कहानियों में कथानायक

वेङ्कटराव और कान्तम् मुख्य पात्र हैं। कान्तम् नाम से इन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों में हास्यरस प्रधान है। इनकी कई कहानियों का तमिल और कन्नड़ में अनुवाद हो चुका है। इनकी लगभग सौ कहानियाँ हैं। सभी संग्रहों के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। १. कान्तम्, २. कान्तम् की कैफियत, ३. हास्य-कथलु, ४. तल्लिप्रेम (मातृप्रेम), ५. कथा-निकलु (छोटी कहानियाँ), ६. मुनिमाणिक्यम्-कथलु, ७. नेनुमा कान्तम् (मैं और मेरी कान्तम्), ८. राधा बाबु, ९. शरद् रात्रुलु, १०. कान्तम् कापुरम् (कान्तम् का पारिवारिक जीवन) आदि मुख्य संग्रह हैं।

तेलुगु-साहित्य में भावना-प्रधान कहानियों के लिए श्रीअडवि बापिराजु प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों में कल्पना, भावना और वर्णन अद्वितीय हैं। संगीत-साहित्य, चित्र-कला और अभिनय में इनका स्थान उल्लेखनीय है। इन्होंने कानून पढ़ा, पर वकालत करना इनको पसन्द नहीं आया। इनकी रचनाएँ देश-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। इनकी कहानियों में अन्धे, लूले, लँगड़े सबके लिए स्थान है। इनकी अधिकांश कहानियाँ सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनकी शैली और कथावस्तु हमें जय-शङ्कर प्रसाद का स्मरण दिलाती हैं। ऐतिहासिक प्रेम-कथाओं के चित्रण में इन्हें अच्छी सफलता मिली। 'शैलबाला' 'सूर्यसुत' और 'सोमसुत' इनकी उत्तम कहानियाँ हैं। इनकी सभी रचनाएँ कवितामय हैं। इनकी कुल ४० कहानियाँ हैं। 'सन्ध्या-नृत्यम्', 'वीणा', 'हंपी शिथिलालु', 'हिमालय-रश्मि', 'राग मालिक', 'तरङ्गिणी' और 'अंजलि' उल्लेखनीय हैं।

साहित्य का जीवन के साथ समन्वय करने में श्रीकरुणकुमार ने अच्छी ख्याति पाई है। ग्रामीण जीवन का चित्रण और ग्रामीण समस्याओं का समाधान हमें इनकी कहानियों में मिलता है। गान्धीजी के असहयोग-आन्दोलन के समय आन्ध्र में अडवि बापिराजु आदि ने ग्रामीण समस्याओं पर कहानियाँ लिखी थीं। पर करुणकुमार ने प्रेमचन्द्र की देखा-देखी कहानियाँ लिखीं। आन्ध्र की ग्रामीण समस्याओं का

साहित्य में चित्रण करनेवालों में श्रीकृष्णकुमार अपना अलग स्थान रखते हैं। इनकी कहानियाँ हृदय-परिवर्तन कराने की क्षमता रखती हैं। 'आकलिमण्टलु' (भूख की ज्वालाएँ) कहानी अधिक कृष्णपूर्ण है। इसमें धनवानों की निर्दयता और गरीबों की कठिनाइयाँ पढ़कर पाठक रो उठता है। इनकी 'ओत्त चेप्पुलु' (नई चप्पल) कहानी पढ़ते ही बनती है। इस कहानी में हम किसान का हृदय-परिवर्तन देखते हैं। यह ग्रामीण जीवन का सजीव चित्र है। इनकी कहानियों में 'सन्मानम्', 'कुली', 'पोलय्या', 'वेंकन्ना' आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी कहानियों के अब तक 'कृष्णकुमार-कथलु' और 'बल्ललमोलजाहु' नाम से दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

उपयुक्त सभी कहानीकारों से श्रीगोपीचन्द्र का स्थान बिल्कुल अलग है। छोटी कहानियों को इन्होंने अच्छा रूप दिया। इनके अबतक दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनका जन्म कृष्ण, जिला अंगलूर, में सन् १९२० ई० में हुआ था। मद्रासमें बी० ए०, बी० एल्० पास किया। पर इन्होंने अपने लिए राजनीति, सिनेमा और साहित्य को चुना। ये ही तीनों क्षेत्र इन्हें अधिक पसन्द हैं। ये लघु-कथा लिखने में अत्यन्त पटु हैं। इनकी कहानियाँ जीवन को बदलनेवाली होती हैं। ये अत्यन्त भावुक हैं और इनको मनोविज्ञान का अद्भुत परिचय है। कम शब्दों द्वारा अधिक भावों को व्यक्त करने में श्रीगोपीचन्द्र अत्यन्त सफल हुए हैं। कथावस्तु के सफल निर्वाह एवं सरल शैली ने गोपीचन्द्र को उत्तम कहानीकार बनाया। इनकी सामाजिक कहानियाँ समाज-सुधार की दृष्टि से लिखी गई हैं। राजनीतिक विषयों पर कहानियाँ लिखकर इन्होंने एक कमी को पूरा किया। 'गोड मीद मूडो वाडु' (दीवार पर तीसरा व्यक्ति) हिन्दू-मुसलमानों के बीच अंगरेजों ने जो फूट डाली थी, उस विषय पर लिखी गई कहानी है। इस प्रकार इन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। सभी संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'गीतापारायणम्', 'तंडुलू-कोडुकुलू' (बाप-बेटे), 'सिनिमा-भूतम्', 'देवुनि-जीवितम्' (भगवान् का जीवन), 'सरे कानि-व्यण्डि' (हाँ होने दीजिए), भार्यल्लोने वुंदि' (पत्नियों में ही है), और 'देशम् एमय्येट्टु' (देश क्या हो ?)

आदि इनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। इनकी अधिकांश कहानियाँ विचार-प्रधान हैं, हृदय की भूख को इनमें तृप्ति नहीं मिलेगी।

तेलुगु में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों से कहानियाँ लिखी गई हैं। प्रगतिशील कहानियाँ लिखने में श्रीकोडवटि कुटुम्बराव सिद्धहस्त हैं। इनकी कहानियों में वर्ग-भेद के कारण पीडित लोगों के प्रति सहानुभूति की प्रधानता है। ये प्राचीन रूढ़ि-रीतियों के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने अपनी कहानियों के सम्बन्ध में स्वयं एक बार लिखा था— 'मैं मध्यम वर्ग का मनुष्य हूँ। उसी संस्कार के आधार पर प्रगतिशील रचनाएँ कर रहा हूँ। मैं जितना जल्दी लिखता हूँ, पत्रिकाएँ उतनी जल्दी प्रकाशित नहीं कर पाती।' यथार्थवादी होने के कारण समाज का चित्रण ही इनका दृष्टिकोण रहा है। विषय पर अधिक ध्यान देते हैं। भाषा व्यावहारिक है। शैली पात्रों के अनुकूल रहती है। इनकी भाषा पर अँगरेजी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आर्थिक समानता पर भी जोर देते हैं। इनकी भावनाओं पर पाठक अधिक मुग्ध होते हैं। इन्होंने अपनी भावनाओं के व्यक्त करने में ऐसी सूक्तियों का प्रयोग किया है कि वे महान् सन्तों की उक्तियाँ प्रतीत होती हैं। इनकी कहानियों से जीवन को नई दिशा में ले जाने की प्रेरणा मिलेगी। चाहे विषय कैसा भी क्यों न हो, उसे सरस एवं सरल बनाकर उस पर ये कहानी लिख सकते हैं। 'युव प्रचरण' ग्रन्थमाला की स्थापना करके इन्होंने नये लेखकों को प्रोत्साहित भी किया। बाद को अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक रहे। इन्होंने सौ से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। इनके १. निलुवनिरू, २. मोडिवाडु, ३. स्वगतम्, ४. इललरिकम्, ५. कारुण्यम्, ६. वरप्रसादम्, ७. कवि राहु, ८. कालभैरवडु, ९. आड जन्म, १०. तल्लिलेनिपिल्ल और ११. पहनवाराम कहानी-संग्रह उल्लेखनीय हैं।

गत वर्ष विश्व-कहानी-प्रतियोगिता में तेलुगु-कहानी 'गालिवान' (तूफान) को द्वितीय पुरस्कार मिला था। इस 'तूफान' कहानी के लेखक श्रीपालगुम्मि पञ्चराजु हैं। आपने एम्० एस्-सी० तक अध्ययन

किया और कॉलेज में काम करते रहे। फिलहाल, आप मद्रास में सिनेमा-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। यद्यपि आपने बहुत ही कम कहानियाँ लिखी हैं, फिर भी आपने तेलुगु-कहानी-साहित्य में अपना अनूठा स्थान प्राप्त कर लिया है। आपकी कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है। मानवीय गुण-दोषों का चित्रण आपकी कहानियों में देखने योग्य है। आपकी कहानियों का एक संग्रह 'कुलिजनम्' (मजदूर लोग) नाम से प्रकाशित हुआ है। भाषा व्यावहारिक तथा भावों के अनुकूल होती है। आपकी 'पडव-प्रयाणम्' (नौका-यात्रा) कहानी अछ्छी ख्याति प्राप्त कर चुकी है। आपकी स्फुट कहानियों में 'प्रतीक्षित मुहूर्त' उल्लेखनीय है।

इस समय तेलुगु में असंख्य कहानीकार हैं। पर हम सबका परिचय देने से असमर्थ हैं। उनमें श्रीअनिसेहि सुब्बाराव का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जा सकता है। ये प्रगतिशील कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ दलित, पीडित मानव को लेकर लिखी गई हैं। हाल ही में 'अनिसेहि-कथलु' नाम से एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। 'मनिषि-खरीदु' (मनुष्य का मूल्य), 'सहगमनम् उन्नवारु लेनिवारु' (धनी-निर्धनी) और 'ज्योतुलु वेलिगिचंडि' (ज्योतियों को जलाइए) कहानियाँ हृदयस्पर्शी हैं। इनमें आर्थिक स्थिति के खराब होते हुए भी पारिवारिक प्रतिष्ठा के पीछे पागल होनेवालों की कठिनाइयों का चित्रण किया गया है। 'लोक कंडलु' (दुनिया की आँखें) कहानी सामाजिक अन्धविश्वासों पर तीखा प्रहार करती है।

जहाँ एक ओर पुरुषों ने कहानियाँ लिखीं, वहाँ स्त्रियाँ भी पीछे नहीं रहें। साहित्य-यज्ञ के अध्वर्यु सभी हो सकते हैं। इसमें वर्ण, लिंग एवं वर्ग-भेद नहीं है। अनेक स्त्रियों ने कहानियाँ लिखी हैं। आधुनिक महिला-कहानीकारों में श्रीमती मालती चन्दूर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जीवन की घटनाओं को सुन्दर ढंग से अङ्कित करने में श्रीमती मालती चन्दूर अपना उदाहरण नहीं रखतीं। इनकी कहानियों का संग्रह 'मालती चन्दूर कथलु' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनमें कुल

बाईस कहानियाँ हैं। 'सुशि', 'षण्मुगम्', 'जीवताषुविलुव' (जीवन का मूल्य) आदि उत्तम कहानियाँ हैं।

श्रीमती कोम्मूर पद्मावती देवी ने भी अनेक कहानियाँ लिखी हैं। 'पोगडदंड' नाम से हाल ही में एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। श्रीमती कनुपति वरलक्ष्म भा की 'कसम' कहानी अद्भुत है। श्रीमती इल्लिंदल सरस्वती देवी की कहानियाँ प्रायः तेलुगु की प्रत्येक कहानी-पत्रिका में छपती रहती हैं। श्रीमती नन्दगिरि इन्दिरा देवी, सौरीष आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

कहानी-लेखिकाएँ तो कम हैं, पर कहानी-लेखकों का परिचय देना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा मालूम हो रहा है। श्रीविश्वनाथ सत्यनारायण, श्रीशिवशङ्करशास्त्री, श्रीमल्लादि रामकृष्णशास्त्री, श्रीगोराशास्त्री, श्रीटेकुमल्लकामेश्वर राव, श्रीओगेटि शिवरामकृष्ण, श्रीबुचिबाबु, श्रीरामसा, श्रीश्यामसुन्दर आदि ने अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। तेलुगु-साहित्य में इनका अच्छा स्थान है। इनके कई संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं।



तेलुगु-उपन्यास

तेलुगु में प्रथम उपन्यास, सन् १८८० ई० में, आधुनिक तेलुगु-साहित्य के युगनिर्माता श्रीवीरेशलिगम्जी ने लिखा। तेलुगु-उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश इन्हीं के 'राजशेखर-चरित्र' से हुआ। इस उपन्यास का आधार अंगरेजी-भाषा के विश्व-विख्यात लेखक गोल्डस्मिथ का 'विकार आफ् वेकफील्ड' है। श्रीवीरेशलिगम्जी ने गोल्डस्मिथ के इस उपन्यास पर मुग्ध होकर तेलुगु में इसका अनुवाद करना चाहा। परन्तु बाद को अपना यह विचार बदल दिया और उस रचना के महत्त्वपूर्ण स्थलों को अपनी शैली में ऐसा ढाल दिया कि वह स्वतन्त्र रचना बन गई। इस उपन्यास की विशिष्टता और लोकप्रियता को देखकर पुनः अंगरेजी-विद्वानों ने इसका अंगरेजी-भाषा में 'फारवून्स ह्वील' नाम से अनुवाद किया। इस उपन्यास की जनप्रियता को देखकर बाद को उन-उन भाषाओं के विद्वानों ने मलयालम, तमिल और कन्नड़-भाषाओं में इसका अनुवाद किया। इस पुस्तक की 'लन्दन टाइम्स' ने बड़ी प्रशंसा की। मद्रास के प्रसिद्ध अंगरेजी दैनिक पत्र 'हिन्दू' ने लिखा— 'राजशेखर-चरित्र' ने तेलुगु-साहित्य में एक नये युग का श्रीगणेश किया है।' इससे अधिक उसकी प्रशंसा और चाहिए ही क्या थी? इस उपन्यास के वैरागी स्वर्ण-विद्या, सुब्रह्मण्यम् की परिहास-बुद्धि, कृष्णगजपति की उदारता को हम भुलाने का प्रयत्न करने पर भी भूल नहीं सकेंगे। पुस्तक में यत्र-तत्र मुहावरों, कहावतों तथा सुन्दर वाक्यों से अलंकृत शैली पढ़ते ही बनती है।

इसके उपरान्त इस क्षेत्र में श्रीवीरेशलिंगम् पन्तुलुजी के अनुयायी श्रीचिलकर्मति लक्ष्मीनरसिंहम्जी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। इन्होंने स्वतन्त्र रचनाएँ भी कीं और अनुवाद भी। श्रीवीरेश-लिंगम्जी ने उपन्यास का प्रारम्भ किया, तो श्रीचिलकर्मति ने अपने उपन्यासों के द्वारा अधिक प्रचार किया और लोगों में उपन्यास के प्रति रुचि पैदा की। उस समय लोग इनकी रचनाओं को चाव से पढ़ते थे और इनसे नये-नये उपन्यास की अपेक्षा रखते थे। पाश्चात्य उपन्यास-परिभाषा के अनुकूल इनके उपन्यास बन पड़े। इनका ध्येय सामाजिक सुधार अधिक था। यों तो, इन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं, परन्तु 'हेमलता', 'अहल्याबाई', 'कर्पूरमञ्जरी', 'सौन्दर्यतिलक' और 'रामचन्द्र-विजय' मुख्य माने जाते हैं। इनका 'गणपति' उपन्यास तो अति अद्भुत है। यही इनकी कीर्ति का केतु है। 'कर्पूरमञ्जरी' का सबसे अधिक प्रचार हुआ है। इनका 'सौन्दर्यतिलक' उपन्यास पौराणिक गाथा से सम्बन्धित है और 'हेमलता' और 'अहल्याबाई' महाराष्ट्र तथा पठान लोगों के समय के इतिहास से। 'रामचन्द्रविजय' आधुनिक समाज की घटनाओं पर बनाया गया है। इनका 'सुधाशरच्चन्द्र' रमेशचन्द्रदत्त के बँगला-उपन्यास का अनुवाद है। इनकी सरल और सरस शैली पर पाठक मुग्ध हो जाते हैं। उपन्यासों में वातावरण, पात्र-पोषण, कथावस्तु, शैली, भावाभिव्यञ्जना की असाधारणता को देख लोगों ने इन्हें तेलुगु-उपन्यास-साहित्य का 'स्काट' कहना प्रारम्भ किया।

नाटक-रचना में यह मँजे हुए लेखक थे। इनके समय में ही इनके 'गयोपाख्यान' नाटक की एक लाख बीस हजार प्रतियाँ बिक गई थीं। इससे इनकी लोकप्रियता का परिचय मालूम हो सकता है।

श्रीचिलकर्मति के बाद अनेक ग्रन्थ-मण्डलियाँ खुलीं और अन्य भाषाओं में ख्याति-प्राप्त उपन्यासों का तेलुगु में अनुवाद-कार्य प्रारम्भ किया गया। प्रथम 'विज्ञान-चन्द्रिका-ग्रन्थ मण्डली' वालों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। इन लोगों ने अच्छे उपन्यासों के लिए पुरस्कार

देकर प्रोत्साहन भी दिया है। इसी ग्रन्थ मण्डली की ओर से 'विमलादेवी', 'रायचूरमुद्ध', 'रानी संयुक्ता' आदि ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए। श्रीभोगराजु नारायणमूर्तिजी ने 'विमलादेवी' और 'चन्द्रगुप्त' नामक दो उपन्यास लिखे। 'रानी संयुक्ता' के लेखक श्रीवेलाल सुब्बारावजी हैं और 'रायचूरमुद्ध' श्रीकेतवरपुर वेङ्कटशास्त्री ने लिखा है।

ठीक इसी समय 'आन्ध्र-प्रचारिणी-ग्रन्थमाला' सन् १९११ ई० में स्थापित हुई। इस संस्था ने बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के प्रायः सभी उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित किया। इस कार्य में श्रीवेङ्कटपार्वतीश्वर (कविद्वय) ने अच्छा योग दिया। इन लोगों ने तेलुगु में जासूसी उपन्यासों का प्रचार किया। तेलुगु में एक नई शैली की सृष्टि की और बँगला-शब्दों का तेलुगु-भाषा में ऐसा प्रयोग किया कि वे तेलुगु के ही शब्द बन गये। इनके उपन्यासों में 'मायावी', 'मनोरमा', 'वीरपूजा', 'अरण्यक' और 'अशोक' मुख्य हैं। इनके अलावा 'प्रतिज्ञा-पालन', 'प्रमदावन', 'वसुमती-वसन्तम्' और 'कृष्णकान्तुनि मरणशासनम्' इनके बँगला और कन्नड़ के अनुवाद हैं।

इस प्रकार, जहाँ एक ओर अनुवाद-कार्य हो रहा था, वहाँ स्वतन्त्र रचनाएँ भी हो रही थीं। श्रीउन्नव लक्ष्मीनारायणजी का 'मालपल्ले' (हरिजनों का गाँव) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह उपन्यास भाषा, विषय, वातावरण आदि सभी औपन्यासिक तत्त्वों से समृद्ध तेलुगु-उपन्यास है। काँग्रेस में गान्धीजी के आगमन से भारत में जो राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ, उसकी लहर आन्ध्र-देश में भी जागरित रही। गान्धीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों का देश-भर में सफल प्रयोग हो रहा था। भला, ऐसी स्थिति में समाज-सुधारक उन्नवलक्ष्मीनारायण-जैसे व्यक्ति कैसे चुप रहते। उन्होंने समाज-सेवा के साथ साहित्य-सेवा भी शुरू की। गान्धीजी का हरिजनोद्धार कार्यक्रम उनको विशेष

प्रिय मालूम हुआ। इसी हरिजन-आन्दोलन और हरिजन-सुधार सम्बन्धी विषयों की कथावस्तु बनाकर श्रीलक्ष्मीनारायणजी ने 'माल-पल्ले' की रचना की है। इसके पात्र हमारे दैनिक जीवन में गाँवों में दीखनेवाले चलते-फिरते साधारण मनुष्य हैं। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जनता की भाषा में लिखा गया है। हरिजन-वस्तियों में लोग अपने नित्य जीवन में जो भाषा बोलते हैं, उसका इस रचना में उपन्यासकार ने उपयोग किया है। उपन्यास को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि घटनाएँ अब भी हमारी आँखों के सामने घट रही हैं। उस समय की सामाजिक व्यवस्था और आन्ध्र-देश के आचार-व्यवहार का इस उपन्यास में दर्पण-जैसा प्रतिबिम्ब है। इस उपन्यास का नायक संघदास अपनी जाति का उद्धार करना चाहता है। उन्हें शिक्षित बनाने, सफाई से रहने आदि का उपदेश ही नहीं देता, बल्कि रचनात्मक कार्य द्वारा जाति का सुधार करना चाहता है। उस उद्देश्य की पूर्ति में उसे अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। खट्टर का प्रचार, मांसाहार का बहिष्कार आदि कार्यक्रमों पर अमल करना चाहता है। संघदास की भूमिका इसमें एक सच्चे देशभक्त का स्मरण दिलाती है। उसकी निस्स्वार्थ सेवा उस समय के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की कठिन तपस्या की बरबस याद दिलाती है। इस उपन्यास के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय, थोड़ा ही होगा। आन्ध्र-देश का ग्रामीण जीवन-चित्रण इस उपन्यास की अपनी विशेषता है। इसमें कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों का समान रूप से निर्वाह हुआ है। इसमें प्रचार की मात्रा होने पर भी यह उपन्यास-कला के सभी लक्षणों से पूर्ण है। इसमें उस समय के ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित सभी समस्याओं का समाधान हमें मिलता है। इस उपन्यास ने लोगों में वह कार्य किया, जो कार्य श्रीमैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' ने उन दिनों हिन्दी-भाषी जनता में किया था। इस उपन्यास को पढ़ने पर लोगों की आँखें खुलीं और

अनेक युवकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। इस उपन्यास ने लोगों के हृदयों को हिला दिया था। इससे सरकार घबरा उठी और उसने उपन्यास पर प्रतिबन्ध लगा दिया। बहुत समय के बाद उसके महत्वपूर्ण स्थलों पर कैंची चलाकर प्रकाशन की सरकार ने आज्ञा दी। भारत के स्वतन्त्र होने के उपरान्त उसका पूर्व रूप में प्रकाशन हुआ और वह मद्रास-विश्वविद्यालय की पाठ्य-पुस्तक बनी। इस रचना ने तेलुगु-उपन्यास-साहित्य में अपना अनूठा स्थान बना लिया है। इस उपन्यास में मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के साथ-ही-साथ यह भी दिखाया गया है कि मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियाँ कितनी बलवती होती हैं और मानव-जीवन को कैसे बदल सकती हैं। आन्ध्र-जीवन के चित्रण के साथ विश्व-मानव-भ्रातृत्व का भी इसमें मार्मिक सन्देश छिपा हुआ है।

इसके उपरान्त तेलुगु का दूसरा उपन्यास-रत्न कविसम्राट् श्रीविश्वनाथ सत्यनारायणजी का 'वेयिपडगलु' कहा जा सकता है यह उपन्यास ग्रन्थिक भाषा में रचा गया है। इसमें आन्ध्र-संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक चित्रण के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक परम्परा का अच्छा वर्णन हुआ है। मानव-जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार की समस्याओं का समीचीन चित्रण इसमें मिलता है। यही नहीं, संगीत, कला, नृत्य आदि सभी ललित-कलाओं का उल्लेख यत्र-तत्र हुआ है। आन्ध्र-जाति का सम्पूर्ण इतिहास इस उपन्यास की घटनाओं में दृष्टि-गोचर होता है। इसमें लेखक का गम्भीर अध्ययन और अनुभव, चिन्तन भरा हुआ है। इन्होंने 'वेयि-पडगलु' और 'चेलियलिकट्टु' नामक अपने प्रसिद्ध उपन्यासों में दिखाया है कि पाश्चात्य भाषा और संस्कृति के पीछे हमलोग अपने को भूलकर विपथ हो गये हैं। इसी कारण हम आर्थिक, राजकीय, वैज्ञानिक दासता का दुःख भोग रहे हैं। इन दो उपन्यासों में विषय भले ही बोझीले हों, परन्तु जाति को जगाने में ऐसी

रचनाओं की नितान्त आवश्यकता है। उस सन्धि-काल में भारत-वासी जिस प्रकार की कठिन समस्याओं में पड़े हुए थे, सबका निदान इनकी रचनाओं में चित्रित है। 'वेयिपडगलु' मानव की दयनीय दशा का बड़ा सजीव वर्णन है। श्रीसत्यनारायणजी की रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक न कहकर आचार्य श्रीकुरुगण्डट सीतारामय्याजी के शब्दों में उनका परिचय दूँगा—'श्रीसत्यनारायणजी सार्वभौम कवि हैं। इनका हृदय अत्यन्त कोमल है। इसलिए, सामाजिक अन्याय और दुराचारों ने इनके हृदय पर वज्रप्रहार का काम किया है।'

इनके उपन्यास एक-दो नहीं, पूरे दस हैं। 'वेयिपडगलु' को ग्रान्ध-विश्वविद्यालय से पुरस्कार मिला है। शेष उपन्यासों में 'एकवीर', कुणालुनि शाप', 'धर्मचक्रम्', 'वीर-वल्लभुड', 'कडिमिचेट्टु', 'मा बाबू', 'हाहा हूहू' और 'स्वर्ण निकि निच्चेतलु' उल्लेखनीय हैं। श्रीसत्यनारायणजी का 'चेलियलिकट्टु' उपन्यास विश्व-साहित्य में स्थान प्राप्त करने योग्य है। इसमें मनस्तत्त्वों का जिस ढंग से चित्रण हुआ है, वह अद्भुत एवं शाश्वत है। 'एक वीर' उपन्यास में आदर्शवाद की प्रधानता है। इनके अनेक उपन्यासों में आधुनिक समस्याओं के साथ आधुनिक और प्राचीन सम्प्रदायों के बीच जो संघर्ष हो रहा है, उसका अच्छा विश्लेषण हुआ है। इन कारणों से श्रीसत्यनारायणजी को, जो कवि-सम्राट् हैं, उपन्यास-सम्राट् भी कहें, तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी।

श्रीसत्यनारायणजी के बाद तेलुगु-उपन्यास-साहित्य में श्रीअडवि बापिराजु का स्थान है। अडवि बापिराजु एक साथ ही कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार, चित्रकार, निर्देशक आदि सभी कुछ थे। लोग इनको साहित्यशिल्पी कहकर पुकारा करते थे। इनकी रचना में कला-पक्ष की अधिकता दिखाई देती है। देशभक्त ऐसे थे कि देश और समाज पर मर मिटने के लिए सदा तैयार रहते थे। बापिराजु ने वकालत पास तो की, परन्तु साहित्य-सेवा को ही अपने जीवन का

लक्ष्य बनाया था। इनकी कृतियों पर आन्ध्र गर्व करता है। इन्होंने कई उपन्यास लिखे हैं, उनमें अत्यन्त ख्यातिप्राप्त उपन्यास तीन-चार हैं। 'हिमबिन्दु' इनका ऐतिहासिक उपन्यास है जो 'शारदा'-पत्रिका में धारावाही रूप से छपा है। तदनन्तर पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ है। इसमें उनके ऐतिहासिक ज्ञान का निचोड़ है। इसमें आन्ध्र-जाति का प्राचीन वैभव और सातवाहन-चक्रवर्तियों का इतिहास मनोहर शैली में चित्रित है। (इनका दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास 'नारायणराव' माना जाता है। इस पर आन्ध्र-विश्वविद्यालय का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।) यह एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें बापिराजु की सारी प्रतिभा एकत्रित है। सामाजिक उपन्यासों में 'मालपल्ले' के बाद इसी का स्थान आता है। स्वर्गीय श्रीबापिराजु बहुमुखी प्रतिभा रखते थे (यह शिल्पी, चित्रकार ही नहीं, बल्कि मनोविज्ञान के पण्डित भी थे। भाषा-शैली में इनका कवि-हृदय झलकता दिखाई देता है। 'गोन गन्नारेड्डी' इनका तीसरा सफल उपन्यास है। इस पर बापिराजु को नाज था) लोगों ने भी इसे ऐसा ही अपनाया था। (यह गायक भी थे, अतः भाषा में संगीत-तत्त्व दिखाई देता है। इसलिए, शैली अत्यन्त मधुर है। इनके 'तूफान', 'कोणगी', 'मधुरवाणी', 'जाजिमल्लि' आदि अनेक अन्य उपन्यासों का भी अच्छा प्रचार हुआ है।)

बापिराजु के उपन्यासों के उपरान्त बँगला, हिन्दी, अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद का दौरा चलता रहा। इस समय तक बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीशरच्चन्द्र और श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों का विश्व में अधिक बोलबाला रहा। अतः, तेलुगु में भी इनका अनुवाद होना सहज तथा स्वाभाविक था। इस समय एक ग्रन्थ-मण्डली स्थापित हुई। एक ओर स्वतन्त्र रचनाएँ भी होती थीं। आन्ध्र-भाषा-परिषद् के अध्यक्ष श्रीशिवशङ्करशास्त्रीजी की अध्यक्षता में सरस्वती-ग्रन्थ-मण्डली की स्थापना हुई। यह उस युग के कविता-क्षेत्र के गुरु थे। इस ग्रन्थ-मण्डली की ओर से श्रीकेतवरपुर वेङ्कटशास्त्रीजी के 'लक्ष्मीप्रसादम्', 'पूजीनन्दम्' और 'अग्रहारम्' नामक

तीन मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। इनके उपन्यासों से ग्रन्थ-जनता चिर-परिचित है। इस मण्डली ने बँगला और मराठी-भाषाओं से अनेक उपन्यास अनुवाद कराके छापे। इसमें जासूसी उपन्यासों की संख्या अधिक थी। इससे ग्रन्थ-जनता में उपन्यास पढ़ने के प्रति अधिक रुचि पैदा हुई। इस प्रकार पाठकों का भी एक अच्छा क्षेत्र तैयार हुआ। इस मण्डली की ओर से महादेव सूर्यप्रकाशरावजी का बँगला-अनुवाद 'अरक्षणीय' श्रीजोब्रलगडु सत्यनारायणजी की ग्रन्थिक भाषा में बँगला के अनुवाद पेडिलदण्ड (परिणीता), माधवी (बड़दीदी) और पार्वती (देवदास) नामों से प्रकाशित हुए। श्रीवेलुरि शिवरामशास्त्रीजी के दो बँगला-अनुवाद 'रामुनिबुद्धि मन्तनम्' और 'तीरनि वलपुलु' श्रीसूर्यदेवर वेङ्कट सुब्बाया का 'ग्रन्थकारलो प्रकाशम्' और श्रीईदर लक्ष्मीनारायण का 'हरिचरण' भी प्रकाशित हुए।

देशी कविता-मण्डली ने तो शरत् की सभी रचनाओं को १४ भागों में पूरा प्रकाशित किया। श्रीशिवरामकृष्ण ने शरत् के सभी उपन्यास अनूदित किये हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र की कृतियों का भी तेलुगु में अनुवाद जोरों से चल रहा है।

श्रीकारुभूरु वैकुण्ठरावजी ने कवीन्द्र की सभी कहानियों के साथ उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'इंटा बयटा' (घर और बाहर), 'पडा मुनक' (नौका डूबी) और 'गोरा' का अनुवाद किया है। शरत् की रचनाओं का विशेष रूप से प्रचार हुआ है। इसका एक प्रमाण यह है कि इनके श्रीकान्त नामक उपन्यास का तीन बार अनुवाद हुआ है।

इनके अलावा रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकारों की कृतियों का भी अनुवाद-कार्य प्रारम्भ हो गया है। विश्व के समस्त ख्यातिप्राप्त ग्रन्थों का अनुवाद कर कम दाम में इनका साहित्य सर्वसाधारण को सुलभ बनाने के निमित्त 'इंटीट विज्ञानमाला' की स्थापना हुई है। इसके अध्यक्ष श्रीमो० सत्यनारायणजी एम्० पी० (हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रधान मन्त्री) हैं और मन्त्री श्रीमल्लिकार्जुनरावजी हैं। इस मण्डली की ओर से

टाल्स्टाय का प्रसिद्ध उपन्यास 'आनाकेरिनिना' का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसके अनुवादक तेलुगु के अच्छे लेखक और 'जनवाणी' पत्र के सम्पादक श्रीतापी धर्मरावजी हैं। यह अनुवाद अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में छोटे वाक्यों में संक्षिप्त रूप में है। यह इसकी विशेषता है। श्रीशेव्विडि लिंगराजु ने गोर्की के 'अम्म' उपन्यास का अनुवाद किया है। श्रीअश्विनीकुमार दत्त, श्रीमहीधरजगमोहनराव भी अच्छे अनुवादक हैं।

विशालान्ध्र-प्रचरणालय ने प्रेमचन्दजी के प्रायः सभी उपन्यासों का तथा जैनेन्द्रजी के सुखदा इत्यादि का तेलुगु-अनुवाद प्रकाशित किया है। श्रीभगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा भी उल्लेखनीय है। ये सब उपन्यास तेलुगु में अल्प समय में ही अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। इससे उत्साहित हो उक्त संस्था अन्य उपन्यासकारों की भी रचनाओं का अनुवाद प्रकाशित करने की दिशा में तत्पर है।

श्रीचलम् के 'अरूप', 'शशिरेखा', 'अमीना', 'मैदानम्', 'ब्राह्म-नीकम्', 'विवाह' और 'दैवमिचिन भार्या' अच्छे उपन्यास हैं। इन्होंने भाव और भाषा में भी क्रान्ति कर दी है। तेलुगु-उपन्यास-साहित्य को एक नयापन इनकी कृतियों से प्राप्त हुआ है। श्रीमुनिमाणिक्यम् के 'वक्ररेखा' (ऐतिहासिक), 'तिरुमाल्लिका' (सामाजिक) और 'दीक्षितुलु' भी अच्छे उपन्यास हैं। श्रीगोपीचन्द के 'परिवर्त्तन' और 'असमथुनि जीवन-यात्रा', श्रीबुच्चिबाबू का 'चिचरकुमिगिलेदि', बलिवाडा कान्ता-राव का 'बिकारी', भी अच्छे उपन्यास हैं। 'असमथुनि जीवन-यात्रा' और 'चिचरकुमिगिलेदि' उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक उपन्यास माने जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास प्रस्तुत करने में श्रीचलम्बुच्चिबाबू तथा कोडवटिगण्टि कुटुम्बराव विशेष प्रसिद्ध हैं। श्रीकोडवटिगण्टि कुटुम्बराव ने तीन-चार उपन्यास लिखे हैं। उनमें पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सुन्दर एवं स्वाभाविक रूप में हुआ है। परिस्थितियों के बीच मानव का

मन कैसे उत्थान एवं पतनावस्था को प्राप्त होता है तथा द्वन्द्व-भावनाओं के संघर्ष से मनुष्य कुछ-का-कुछ कैसे कर बैठता है, यह पढ़ते ही बनता है। श्रीचलम् का 'जीवन-आदर्श' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है। इसमें विलासी व्यक्ति के मनस्तत्त्व का सुन्दर चित्रण हुआ है। विलासिता से ऊबकर वह अन्त में संन्यासी बन जाता है। इसमें लेखक का जीवन ही प्रतिबिम्बित हो उठा है। उन्हीं के जीवन का चित्रण कहें, तो अत्युक्ति न होगी।

तरुण पीढ़ी के उपन्यासकारों में श्रीमती मल्लादि वसुन्धरा का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनका 'तंजावुरपतनम्' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसपर लेखिका को आन्ध्र-विश्वविद्यालय से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। इनका दूसरा उपन्यास 'दूरपुकोंडलु' (दूर के पहाड़) भी विशेष लोकप्रिय हुआ है। श्रीभास्कर भट्टल कृष्णाराव ने भी दो-तीन उपन्यास लिखे। उनमें 'युगसन्धि' उपन्यास कला की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है।

श्रीधूलिपाल श्रीराममूर्ति ने 'भुवन-विजय' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत किया है। इसमें स्वर्णयुग नाम से विख्यात विजयनगर-साम्राज्य का चित्रण सजीव हो उठा है। 'भुवनविजय' कृष्णदेवराय की सभा थी। जिसमें सभी ललित-कलाओं की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। साहित्यिक गति-विधि के साथ तत्कालीन समाज का परिचय प्राप्त करने के लिए यह उपन्यास विशेष सहायक सिद्ध होगा।

श्रीराचकोंडा विश्वनाथशास्त्री ने 'अतडु-आम्मे' (वह और उसकी पत्नी) नामक एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखा है। इसमें मनुष्य की अचेतन भावनाओं का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत हुआ है। पिति सेट्टी की 'देवतम्' निम्नवर्ग का चित्रण करनेवाला उत्तम उपन्यास है। श्रीवट्टि-कोट आत्मार स्वामी का 'प्रजल मनिषि' तेलंगाने की तानाशाही चित्रण करने में अधिक सफल हुआ है।

पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक प्रकाशित होकर, बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित उपन्यासों में श्रीकालूरि वेङ्कटेश्वर राव का 'ब्लैक ट्यूलिप'

का अनुवाद प्रशंस्य है। श्रीवेलूर शिवरामशास्त्री और श्रीतेन्नेटी सूरि भी उल्लेखनीय अनुवादक हैं।

आज जासूसी उपन्यास विशेष लोकप्रिय हुए हैं। साहित्य-दृष्टि से इनका उतना महत्त्व नहीं है। फिर भी, जनता में उपन्यास-पठन की अभिरुचि पैदा करने में ये विशेष सफल हुए हैं। जासूसी उपन्यास लिखनेवालों की संख्या भी अधिक है। फिर भी, उनमें श्रीटेंपोराव, साम्बशिवराव, कनकमेडला, जोन्नल गड्डा, आरुद्र, नरसिंह, एन्० आर्० चन्दूर, वनश्री आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस समय आन्ध्र-ग्रन्थमाला की ओर से अच्छे विदेशी उपन्यासों का अनुवाद हो रहा है। इनके अलावा तेलुगु में असंख्य उपन्यास प्रचलित हुए हैं, जिनका परिचय हम स्थानाभाव के कारण नहीं दे पा रहे हैं। अतः, उनसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। इतना होते हुए भी अन्त में यह कहना पड़ेगा कि जिस गति के साथ तेलुगु-साहित्य में छोटी कहानी का विकास हो रहा है, उसको देखते हुए उपन्यास-रचना की गति मन्द है।



तेलुगु-रङ्गमञ्च

तेलुगु के नाटक-साहित्य और रङ्गमञ्च का इतिहास आधुनिक है। आधुनिक पद्धति पर नाटक-रचना और रङ्गमञ्च का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व आन्ध्र-देश में देशी नाटक रूप कुरविजी यक्षगान, वीथी नाटक, वीथी भागवत आदि विद्यमान थे, जिनके द्वारा जनता का मनोरञ्जन होता था। इस प्रकार, इस युग में जनता की नाटक-तृष्णा की परिपूर्ति होती थी। इन देशी रूपकों की जनप्रियता के कारण ही तेलुगु-नाटक-संसार में यह जाग्रति देर से दिखाई दी।

आन्ध्र-देश में देशी नाटकों का अभिनय बहुत प्राचीन काल से होता आया है। कूचिपूडि अग्रहारम् के कुछ ब्राह्मण-परिवार भागवत कथा के प्रह्लाद, कृष्ण-लीला इत्यादि का अभिनय करते थे। विशेष कर पर्व-स्थोहारों एवं मेलों में भामा-कलाप, भरत-नाट्य गोल्लकला-पुम् इत्यादि प्रदर्शन जनता के मनोरञ्जन के साधन बने थे।

किन्तु, सन् १८८१ ई० में धारवाड-कम्पनी ने आन्ध्र में भ्रमण करके अनेक नाटकों का प्रदर्शन किया। कुछ समय के उपरान्त बम्बई से आलफ्रेड थियेटर की एक पारसी कम्पनी ने भी आन्ध्र-देश में अपने नाटकों का अभिनय किया। उन्हें देखने पर आन्ध्र-प्रजा में नाटकों के प्रति अभिरुचि पैदा हुई। इससे प्रोत्साहित होकर मछलीपट्टणम्, राजमहेन्द्री, गुप्तर आदि विभिन्न शहरों में नाटक-समाज स्थापित हुए। फिर भी, नाटकों का अभाव था। इसकी पूर्ति के लिए प्राचीन देशी

रूपकों के आधार पर नाटक-रचना प्रारम्भ हुई। कुछ लेखकों ने 'संस्कृत के नाटकों का तेलुगु-अनुवाद प्रारम्भ किया। श्रीकन्दुर्कि वीरेशलिङ्गम् पन्तुलु के शाकुन्तल अनुवाद ने अन्य लेखकों को भी इस ओर प्रवृत्त किया। बल्लारी में श्रीधर्मवरम् कृष्णमाचामुलुजी ने 'सरस विनोद-सभा' स्थापित की। इस सभा की तरफ से अभिनय करने के लिए श्रीआचामुलुजी ने गद्य-पद्य और गेय कुल २८ नाटक लिखे। उनमें १४ ही प्रकाशित हैं। शेष अमुद्रित हैं। इनके नाटकों पर संस्कृत और अंगरेजी-नाटकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। इनके अधिकांश नाटक पौराणिक रहते हुए भी तत्कालीन समाज की राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का परिचय देते हैं। उनका चित्रनालयम् तेलुगु का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। ये केवल नाटककार, और दर्शक ही नहीं, अपितु सफल अभिनेता भी थे। दशरथ, बाहुक, चन्द्रहास, और राजराज नरेन्द्र के अभिनय पर्याप्त प्रशंसनीय हो गये थे। इनके नटन-कौशल पर और नाटक-रचना पर मुग्ध हो गदाल के महाराज ने उन्हें 'बान्ध-नाटक-पितामह' की उपाधि प्रदान की, तो नगर के नागरिकों ने रत्नखचित मुकुट समर्पित कर इनका सम्मान किया। इनके नाटकों में चित्रनालयम्, विषाद सारंगधर और चन्द्रहास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कई नाटक-समाजों ने इन नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय किया। इस प्रकार, रङ्गमञ्च में परिवर्तन लाने का प्रयत्न एक ओर हुआ, तो दूसरी ओर श्रीआचामुलुजी ने प्रथम विषाद सारंगधर को दुखान्त नाटक बनाकर नाटक-रचना में भी क्रान्ति उपस्थित की।

यह रङ्गमञ्च का प्रारम्भिक युग था। उसी बल्लारी नगर में आचामुलुजी के प्रतिद्वन्द्वी श्रीकोलाचलम् श्रीनिवास राव ने भी एक नाटक-समाज स्थापित किया। वे स्वयं कुशल अभिनेता थे और अच्छे नाटककार भी। इनके करीब ३० नाटक प्रकाशित हुए। उनमें 'विजयनगर-राज्य-पतनम्' नामक ऐतिहासिक नाटक विशेष

अबतक सारे आन्ध्र में नाटक का प्रचार हो चुका था। नाटक-रचना और अभिनय का कार्य जोरों से चलने लगा। नगरों एवं गाँवों में भी नाटक-कला-प्रेमी संघों की स्थापना हो चुकी थी। उत्साही नवयुवक नाटक-कला का अभ्यास करने लगे। प्रत्येक नाटक-समाज के आश्रय में एक नाटककार रहा करता था। राजमहेन्द्रवर में श्रीचिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम्जी ने हिन्दू-नाटक-समाज की स्थापना की। ये नाटककार और अभिनेता भी थे। इनके नाटकों में 'गयोपख्यान' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी लोक-प्रियता का सबल प्रमाण यही है कि अबतक इसकी सवा लाख प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इनका प्रथम नाटक 'कीचक-वध' है। इस नाटक के प्रदर्शन में आन्ध्र के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री आन्ध्र-केसरी नाम से विख्यात श्री टी० प्रकाशम्पन्तुलु ने द्रौपदी का वेश धारण किया था। इस प्रकार अभिनय को एक विशुद्ध कला मानकर वकील, जज, डॉक्टर, शिक्षक इत्यादि समस्त वर्ग के लोगों ने उसे प्रोत्साहन दिया। नाट्य-कला के प्रति जो बुरी धारणा थी, वह जाती रही। प्रतिष्ठित सज्जनों के सहयोग से रङ्गमञ्च का विकास होने लगा।

इस प्रकार, नाट्य-कला में ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता गया, त्यों-त्यों रङ्गमञ्च के उपयुक्त आवश्यक परिवर्तन रङ्गमञ्च की सामग्री और नाटक-रचना में भी होने लगे। नैल्लूर-नगर के श्रीवेदम् वेङ्कटराय शास्त्रीजी ने प्रथम पात्रोचित भाषा का प्रयोग कर नाटक-रचना में एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। इन्होंने संस्कृत के भी कई नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक ऐतिहासिक नाटक भी प्रस्तुत किये। प्रतापरुद्रीयम् उत्तमोत्तम हैं। इनका वीर-रस प्रधान 'बोबिल्ल-मुद्ध' नाटक, जो लोक-गीतों के आधार पर निर्मित है, काफी विख्यात है। हाल ही में अखिलभारत-नाटक-कार्यक्रम में प्रतापरुद्रीयम् रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ। इस श्रेणी के नाटकों में श्रीपनुङ्गटि लक्ष्मीनरसिंहम् के नाटक विशेष जनादर को प्राप्त हुए हैं। जनता के मनोरञ्जन के लिए इनके नाटक सफल साधन साबित हुए हैं। इनके नाटकों में

हास्य-रस की प्रधानता होती है। इन्होंने नाटक-रचना में नये प्रयोग करके बाद की पीढ़ी का मार्ग-दर्शन किया। इनके नाटकों में विप्रनारायण, पादुका, राधाकृष्ण, और कण्ठाभरण विशेष प्रसिद्ध हैं।

अब तक नाटकों का उद्देश्य केवल जनता का विनोद रहा है। किन्तु क्रमशः, रङ्गमञ्च के द्वारा प्रजा की भलाई कैसे हो सकती है? समाज-सुधार के लिए रङ्गमञ्च कैसा एक जबरदस्त साधन हो सकता है? इसका अनुभव हुआ।

श्रीवीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी ने वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह इत्यादि समाजिक दुराचारों को दूर करने के अभि-प्राय से कई नाटक और प्रहसन लिखे। संस्कृत और अंगरेजी-नाटकों के कई अनुवाद भी प्रस्तुत किये। इनके नाटकों द्वारा समाज-सुधार में काफी सफलता प्राप्त हुई। इस क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त करनेवाला नाटक श्रीगुरजाड अप्पाराव-कृत कंयाशुल्कम् है। अप्पारावजी ने लोक-भाषा (व्यावहारिक भाषा) में अपने नाटकों की रचना करके रङ्गमञ्च के क्षेत्र में बड़ी क्रान्ति उपस्थित कर दी। यह अंगरेजी-नाट्य-कला के आधार पर निर्मित है। वर्तमान तेलुगु-रङ्गमञ्च का इसे प्रथम नाटक कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सुधारवादी अप्पाराव ने सामाजिक संस्कार की अभिलाषा से यह नाटक प्रस्तुत किया है। हास्यप्रधान होने के कारण यह अल्प समय में ही अधिक जनप्रिय हो गया है। इसके पात्र गिरीशम्, मधुरवाणी, रामप्पपन्तुलु इत्यादि रङ्गमञ्च के क्षेत्र में सदा अमर रहेंगे। विशेष रूप से विजयनगर के एमेच्योर कम्पनी ने इसका अभिनय किया और आन्ध्र-देश के अनेक शहरों में यह सफलतापूर्वक खेला गया। हाल ही में इसका सिनेमा भी बना है।

२०वीं शताब्दी के नाटकों पर अंगरेजी-रङ्गमञ्च का अधिक प्रभाव पड़ा। अभिनय, नाट्य-सामग्री और नाटक-रचना में भी अनेक नये प्रयोग किये गये हैं। स्वाभाविकता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

अनावश्यक पद और गीतों को कम कर वास्तविक जीवन के अति निकट नाटक उपस्थित हुआ। आकार और प्रकार की दृष्टि से नाटक, एकाङ्की और रेडियो-रूपक में नाटक का विभाजन हुआ, तो कथावस्तु की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाम से विभाजन हुआ। जनप्रिय पौराणिक नाटक प्रस्तुत कर विशेष ख्याति प्राप्त करनेवाले तिरुपति देवुटेश्वर कविद्वय हैं। इन्होंने महाभारत की कथा को ग्रहण कर पाण्डवजनन, पाण्डवोद्योग, पाण्डव-प्रवसि, पाण्डव-विजय आदि नाटक लिखे। ये सब लोकप्रिय हुए। इनकी देखादेखी प्रायः सभी लेखकों और कवियों ने असंख्य नाटकों का निर्माण किया। वे सब साहित्यिक महत्त्व रखते हुए भी रङ्गमञ्च पर सफल नहीं हुए।

इसी बीच देश में राष्ट्रीय जाग्रति का आन्दोलन छिड़ा। उसका व्यापक प्रभाव तेलुगु-रङ्गमञ्च पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। एक ओर सामाजिक एवं धार्मिक समस्याएँ भी जटिल बनकर समाज के सामने उपस्थित थीं। असहयोग-आन्दोलन के समय 'गान्धी-विजय', 'स्वराज-रथ', 'नन्दनार', 'शौकत अली', 'पंचाली पराभव' इत्यादि नाटक लिखे गये। इनमें कुछ नाटकों पर सरकार ने अपना दमन-चक्र भी चलाया। तब समाज के पुनरुद्धार के विचार से श्रीकालकूरि नारायणराव ने 'चिन्तामणि', 'मधुसेवा', 'वारविक्रयम्' इत्यादि सामाजिक नाटक प्रस्तुत किये। ये नाटक काकिनडा के आन्ध्र-सेवा-संघम्, यंग मॅस हॉपी क्लब आदि नाटक-समाजों द्वारा बहुत समय तक खेले गये। इसी समय तैनाली शहर के 'बालभारती-नाटक-समाज' रामविलास-सभा, 'मेलवरम', कंपनी, ऐलूर के 'श्रीसीता-रामाञ्जनेय नाटक-समाज' इत्यादि अनेक नगरों के नाटक-समाज जनता की अभिरुचि की पूर्ति करते रहे।

इधर सन् १९२९ ई० में 'नाट्य-कला-परिषद्' की स्थापना हुई। नाटक-प्रतियोगिताएँ चलाकर परिषद् ने, उत्तम नटों एवं नाटकों को पुरस्कृत एवं सम्मानित करना प्रारम्भ किया। पुरस्कृत नाटकों का विशेष

रूप से अभिनय होने लगा। रङ्गमञ्च के विकास में भी परिषद् ने अथक परिश्रम कर नाटक-प्रदर्शन पर से विनोद-शुल्क हटवाया।

इसी वर्ष मद्रास-राज्य के मुख्य न्यायाधीश श्री पी० राजमनार द्वारा यथार्थवादी दृष्टिकोण पर रचित 'तप्पेवरिदि'? (अपराध किसका?) नाटक ने तेलुगु-रङ्गमञ्च में एक नया अध्याय शुरू किया। वास्तविकता का चित्रण करनेवाले इस नाटक का ग्रान्ध-विख्यात नटशेखर श्रीबल्लारीराघव ने मद्रास, बल्लारी आदि अनेक नगरों में प्रदर्शन कर एक नये युग का श्रीगणेश किया। 'तप्पेवरिदि'? और 'सरिपडनि सङ्गतुलु' ये दोनों नाटक विधवा-विवाह-समस्या पर रचे गये हैं। इन दोनों नाटकों में कथा-वस्तु और शिल्प में नये-नये प्रयोग किये गये हैं। जिनके प्रभाव से अनेक नवयुवकों ने कई नाटक प्रस्तुत किये।

क्रमशः भारत के बाहर के देशों में भी जो सामाजिक, राजनीतिक और औद्योगिक क्रान्तियाँ हुईं, उनका प्रभाव परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से भारत के सामाजिक जीवन पर भी पड़ने लगा। अन्तरराष्ट्रीय साहित्य के अध्ययन द्वारा भारत के नवयुवकों में नई चेतना पैदा हुई। युवकों ने भारत की जीर्ण-शीर्ण आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर दृष्टि दौड़ाई। जमीन्दारी-प्रथा के कारण गरीब, कृषक एवं मजदूरों के बीच चलनेवाले सङ्घर्ष की ओर उनका ध्यान गया। इन्हीं घटनाओं को कथा-वस्तु बनाकर कई लेखकों ने नाटक लिखे। उन प्रगतिशील नाटकों में रङ्गमञ्च पर श्रीवासिरेड्डी भास्कर राव और शङ्कर सत्यनारायण-कृत 'मा-भूमि' और 'मुन्दुडुगु' अधिक सफल हुए। कई लाख जनता ने इन नाटकों के प्रदर्शन देखे। ग्रान्ध के कोने-कोने में इनका अभिनय हुआ। इस प्रकार, अभ्युदय-नाटकों के प्रणयन के लिए उपयुक्त दोनों नाटक आदर्श बने। ग्रान्ध के प्रजा-जीवन में प्रमुख स्थान पानेवाले इस सङ्घर्ष ने अनेक लेखक और नाटक-समाजों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट किया। दोनों नाटकों के अभिनय पर सरकार ने रोक लगा दी। इनमें

राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रचार की मात्रा अधिक थी, 'मुन्दुडुगु' जमीन्दारी-समस्या पर और 'मा-भूमि' तेलंगाने के किसानों की समस्या पर रचे गये हैं।

इसी प्रकार की अन्य सामाजिक समस्याओं पर कई नाटककारों ने नाटक लिखे। इनमें शोषक और शोषित तथा मध्यवर्ग के लोगों की दैनिक समस्याओं के चित्रण करनेवाले अनेक नाटक आये। प्रजा-नाट्य-मण्डली की स्थापना (जन-नाट्य-संघ) ने इन नाटकों को और भी बल प्रदान किया। इस पीढ़ी के रङ्गमञ्च पर आचार्य आत्रेय के नाटक अधिक विख्यात हुए। रङ्गमञ्च पर भी इनके नाटकों को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। श्रीआत्रेय के नाटकों में 'परिवर्तन' ? 'एन्० जी० ओ०', 'पोरुगु', 'अदेकोंप', 'कप्पलु' इत्यादि बहुत जनप्रिय हुए। उनके नाटकों के विशेष जनादर प्राप्त करने के मुख्य कारण चमत्कार-पूर्ण सम्भाषण, प्रभावपूर्ण घटना-क्रम, कथावस्तु का विधान और अति सहज चरित्र-चित्रण कहे जा सकते हैं। इन विशेषताओं के कारण आचार्य आत्रेय को अत्याधुनिक तेलुगु-रङ्गमञ्च का मार्गदर्शक कहें, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इन्हीं की भाँति सामयिक समस्याओं पर रचे गये श्रीपिनिशेट्टी के 'कुल्लेनीपिल्ला', 'पल्लेपडुचु' और 'अन्नाचेल्लु' आदि नाटक रङ्गमञ्च पर सफलतापूर्वक खेले गये। राजनीतिक पार्टियों ने भी नाटक को एक हथियार बनाकर अपने सिद्धान्तों का अच्छा प्रचार किया। फिर क्या था, विभिन्न समस्याओं पर नाटक तैयार हुए।

द्वितीय महासंग्राम के उपरान्त तेलुगु-रङ्गमञ्च में काफी परिवर्तन हुआ। मानवता के नाश के लिए युद्धोन्मादियों ने मारण-अस्त्रों का निर्माण करना प्रारम्भ किया और उनका परीक्षण भी होने लगा, जिससे मानव-समाज को असंख्य प्रकार की कठिनाइयाँ भेलनी पड़ीं। धरती पर सर्वत्र शान्ति की पुकार सुनाई देने लगी। युग की इस वाणी को प्रतिबिम्बित करनेवाले कई नाटक तेलुगु-साहित्य में आये। ये समस्याएँ तत्कालीन समाज की माँग थीं।

अतः, इस आशय के नाटक रङ्गमञ्च पर अनेक बार अभिनीत हुए। उनमें शान्ति-आन्दोलन को बल प्रदान करनेवाले श्रीअनिशेट्टी सुब्बाराव का 'शान्ति', श्रीआत्रेय-कृत 'विश्व-शान्ति', श्रीगिडुतूरि सूर्यम्-रचित 'चिरञ्जीवि मानवुडु' और श्रीपडाल का लिखा 'सन्देश' रङ्गमञ्च पर विशेष सफल रहे। लाखों जनता ने इनका प्रदर्शन देखा और पसन्द भी किया।

रङ्गमञ्च से अबतक प्राप्त अनुभव को आधार बनाकर श्रीअनिशेट्टी सुब्बाराव ने तेलुगु-रङ्गमञ्च को एक नया रूप प्रदान किया। 'शान्ति' मूक नाटक है। मञ्च पर पात्र मूकाभिनय करते हैं और नेपथ्य में पात्रों के सम्भाषण पढ़े जाते हैं। व्याख्याता भी नेपथ्य में रहकर अभिनय कराता है। इस नाटक ने केवल आन्ध्र और मद्रास के प्रक्षकों को ही नहीं, अपितु रूस के कलाकारों को भी मुग्ध बनाया। इस नाटक के प्रदर्शन में भाग लेकर रूस के कलाकारों ने उसका फिल्म भी लिया।

वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ मानव में विलक्षण बुद्धि का विकास अधिक हुआ। मानव प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने को जिज्ञासु रहा। कल्पना को यथार्थ रूप देने को उद्विग्न रहा। इस प्रकार के मानव की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले मनोवैज्ञानिक नाटक आये। उनमें श्रीसत्यनारायण श्रीवात्सव-कृत 'तीरनिकोरिकलु' और श्रीअनिशेट्टी का 'गालिमेडलु' अधिक प्रचार में आये। स्वाप्निक जगत् का चित्रण करनेवाले इन नाटकों के बाद यथार्थ जीवन का चित्रण करनेवाले कई महत्त्वपूर्ण नाटक आये। लेकिन, 'तीरनिकोरिकलु' और 'गालिमेडलु' के नाटककारों ने तेलुगु-रङ्गमञ्च और नाटक-साहित्य में एक नया प्रयोग किया। यह अपने ढंग का है। इसके बाद कई छाया-नाटक आये। उनमें श्रीसुङ्कर सत्यनारायणजी का 'भूमि कोसं' तथा अन्य नाटककारों के 'आसामी' और 'निजा निजालु' उल्लेखनीय हैं। इसी समय में श्रीभामिडिपारि कामेश्वरराव के हास्यप्रधान नाटक, श्रीडी० वी० नरसुराज के

‘नाटक’ श्रीसुब्बाराव के ‘इनप तेरलु’ इत्यादि नाटक जनता के मनोरञ्जन में अपना अच्छा स्थान रखते हैं।

परन्तु, क्रमशः पूर्व नाटकों के स्थान को एकाङ्कियों ने ले लिया। सिनेमा के प्रभाव ने रङ्गमञ्च के समुचित विकास में विघ्न उपस्थित किया। प्रायः प्रसिद्ध सभी नाटककार सिनेमा-नाटक लिखने लगे। अच्छे नाटकों के अभाव में रङ्गमञ्च में आशातीत उन्नति की सम्भावना नहीं रही। साधन और उपकरण की दृष्टि से रङ्गमञ्च सिनेमा से होड़ नहीं ले सका। फिर भी पर्व, त्योहार, मेले, उत्सव और चुनाव आदि के समय नाटक-प्रदर्शन अनिवार्य हो गया। स्कूल, कॉलेजों के लिए खुला रङ्गमञ्च तैयार किया गया। प्रत्येक स्कूल और कॉलेज में सांस्कृतिक उत्सव और प्रदर्शन करना परिपाटी हो गई। आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने रङ्गमञ्च के विकास के लिए अर्थ एवं उपकरणों के रूप में सहायता देकर कॉलेजों के नाटक-समाजों को प्रोत्साहित किया। आज आन्ध्र में ऐसा कोई उत्सव और समारोह नहीं मनाया जाता, जिसके अन्त में एकाङ्की का प्रदर्शन न हो। इनके अतिरिक्त विभिन्न नाट्य-कला-प्रेमी-सङ्घ, जमीन्दार एवं अन्य संस्थाओं द्वारा तेलुगु-रङ्गमञ्च का अच्छा विकास हो रहा है।

इनके साथ रेडियो-श्रव्य-रूपकों का प्रसार भी विशेष रूप से हो रहा है। अच्छे रूपकों का प्रदर्शन भी किया जा रहा है। श्रीशिवशङ्करशास्त्रीजी के पद-रूपक काफी विख्यात हुए। रेडियो-रूपकों में श्रीगोराशास्त्रीजी का ‘आशा खरीदु अणा’, ‘मेलवुल्लो’, काफी विख्यात हुए। ये रङ्गमञ्च पर भी खेले गये। रेडियो-रूपकों में श्रीकोडवटिगण्टि कुटुम्बराव, श्रीपी० पद्मराजु, श्री श्री, आरुद्र, अनिशेट्टी, कृष्णशास्त्रीजी, रजनीकान्तराव, पी० रामचन्द्रमूर्ति, वीरमद्राव इत्यादि के रूपक विशेष जनप्रिय हुए और इनका प्रदर्शन भी हुआ। विश्वविद्यालय और कॉलेज वालों द्वारा जो नाटक-स्पर्धाएँ प्रतिवर्ष चलती हैं, उनमें पुरस्कृत नाटकों, एकाङ्कियों का प्रदर्शन होता रहता है। इनके अतिरिक्त इसके पूर्व रङ्गमञ्च पर सफलता-प्राप्त नाटकों का सिनेमा

बनाया जा रहा है। सिनेमा में सफल होने पर भी उन नाटकों का रङ्गमञ्च पर भी अभिनय करने का उत्साह अभिनेताओं में पैदा हो रहा है। इस वर्ष ललित-कला (संगीत)-एकाडमी द्वारा आयोजित नाटक-प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए आन्ध्र से २५० नाटक-समाजों ने प्रार्थना-पत्र भेजे थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आन्ध्र-देश में रङ्गमञ्च का कैसा विकास हुआ है। नाटक-कला-प्रेमी-सङ्घ उत्तम से उत्तम नाटकों के प्रदर्शन के लिए उत्सुक हैं। पुरानी चीज की अपेक्षा नयी वस्तु को वे प्रेक्षकों के समक्ष रखना चाहते हैं। परिवर्तित होनेवाले इस समाज और दुनिया की दौड़ के अनुरूप नाटकों को भी प्रस्तुत करना आवश्यक है। जनता की अभिरुचि के अनुरूप नाटक-प्रदर्शन करने के लिए आन्ध्र-नाटक-संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं।

इस प्रकार, आन्ध्र के युवक नाटककार तेलुगु-रङ्गमञ्च के विकास के लिए आवश्यक नये कलारूपों को नये प्रयोगों द्वारा समर्पित करते जा रहे हैं। इन नाटकों में आन्ध्र-देश की जनता का जीवन प्रतिबिम्बित हो रहा है। भविष्य में जनता की समस्याओं के चित्रण में भी सफलता प्राप्त करने के लिए नाटककार अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार, आन्ध्र-देश में नाटक और रङ्गमञ्च के विकास के लिए जो बहुमुखी प्रयत्न हो रहे हैं, उनसे हम आशा कर सकते हैं कि तेलुगु-रङ्गमञ्च का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।



तेलुगु का समीक्षा-साहित्य

ग्रान्ध्र-वाङ्मय के समुचित अध्ययन द्वारा हमें पता चलता है कि तेलुगु में समीक्षा-साहित्य का प्रादुर्भाव आधुनिक युग में हुआ और यह अंगरेजी-साहित्य की देन है। प्राचीन समय के कवि अपने पूर्व कवियों तथा उनकी कृतियों के गुण-दोषों को प्रशंसा एवं निन्दा के रूप में, एकाध पद्य में, व्यक्त कर देते थे। यह क्रम हिन्दी में भी रहा है—‘सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।’ अथवा ‘उत्तम पद कवि गङ्ग के, कविता में बलवीर। केशव अर्थ गंभीर की, सूर तीन गुण धीर।’ इत्यादि सूक्तियों के रूप में हिन्दी में समीक्षा-साहित्य का श्रीगणेश हुआ है। इसी प्रकार, तेलुगु में भी आलोचना-साहित्य का आविर्भाव हुआ है।

तेलुगु में समीक्षा-साहित्य का प्रादुर्भाव १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और वह बराबर प्रगति को प्राप्त करता जा रहा है। तेलुगु के सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य को हम स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। तेलुगु-भाषा से सम्बन्धित समीक्षा और दूसरा साहित्य से सम्बन्धित। पाश्चात्य भाषाशास्त्रवेत्ताओं ने बड़ी छान-बीन के उपरान्त अपनी भाषाओं के लिए जो सिद्धान्त निर्धारित किये, उनका अपनी भाषाओं के साथ समन्वय कर नई रीतियों में यहाँ के विद्वानों ने विमर्शनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किये। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ रचे गये हैं। जिनमें केवल तेलुगु-भाषा से सम्बन्धित समीक्षा ही

नहीं, अपितु तेलुगु के साथ अन्य दाक्षिणात्य भाषाओं के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। ये समीक्षा-ग्रन्थ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार, तेलुगु में समीक्षाशास्त्र-ग्रन्थों के प्रणयन का सूत्रपात हुआ।

ऐसे समय में तेलुगु में पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगी थीं। गद्य-साहित्य के विभिन्न अङ्ग एवं उपाङ्गों का विकास भी होने लगा था। 'गद्य-ब्रह्म' नाम से विख्यात श्रीवीरेशलिङ्गम् ने 'विवेकवर्द्धिनी', 'सती-हितबोधिनी' और 'हास्य-संजीवनी' नामक पत्रों में विमर्शनात्मक लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया। श्रीवीरेश-लिङ्गम्जी केवल कवि, नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार ही नहीं, अपितु वे आलोचक भी थे। उन्होंने देखा कि लोग मनमाने ढंग पर रचनाएँ करते जा रहे हैं। उनका समुचित रूप से परिष्कार न किया जाय, तो साहित्य के बिगड़ने की सम्भावना थी। अतः उन्होंने उन रचनाओं पर आलोचना-रूपी अंकुश का प्रहार किया। ये तेलुगु-साहित्य के 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' कहे जा सकते हैं। इन्होंने भी द्विवेदीजी की तरह पत्र-पत्रिकाओं में अपने आलोचनात्मक लेखों द्वारा काव्य और कवियों के गुण-दोषों का निरूपण किया। साथ ही साथ आलोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। इनका प्रथम समीक्षा-ग्रन्थ 'कोक्कोड वेङ्कटरत्नकवि-कृत विग्रहतन्त्र विमर्शनम्' है। इसमें साहित्यिक समीक्षा-रीतियों का अभाव नहीं, परन्तु इसमें व्यक्ति-दूषण खटकता है।

तेलुगु में समीक्षा-साहित्य का प्रारम्भिक समय पत्र-पत्रिकाओं में विमर्शनात्मक लेख प्रकाशित करने तक सीमित रहा है। उसमें 'विवेकवर्द्धिनी', 'अमुद्रित ग्रन्थ-चिन्तामणि', 'कलावती', आन्ध्र-भाषा-संजीवनी' आदि पत्रिकाओं में विशेष रूप से समीक्षा-प्रधान निबन्ध प्रकाशित होते थे और इनमें 'रेफद्वय', पात्रोचित भाषा आदि विषयों पर आलोचना चलती थी। क्रमशः यह आलोचना पुस्तक रूप में होने लगी। श्रीटी० एम्० शेषगिरि शास्त्रीजी ने 'अर्थानुसार

तत्त्व' और 'आन्ध्र-शब्द-तत्त्वम्' नाम से दो समीक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित किया। यह सन् १८७३ ई० की बात है। फिर ५ वर्ष के उपरान्त श्रीगोपाल-राव नामुडु ने तेलुगु-भाषा के सम्बन्ध में बड़ी छान-बीन की और इस अनुसन्धान के परिणामस्वरूप 'आन्ध्र-भाषा चरित्र-संग्रहम्' (तेलुगु-भाषा का इतिहास-संग्रह) नामक ग्रन्थ तेलुगु-वाङ्मय को भेंट किया।

इसके बाद अलङ्कार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना अधिक होने लगी। श्रीवीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी ने बालकों के उपयोगार्थ 'काव्य-संग्रह' और 'अलङ्कार-संग्रह' नामक दो पुस्तकें लिखीं। 'अलङ्कार-संग्रह' नाम से श्री पी० रङ्गाचार्युलुजी ने भी एक पुस्तक लिखी है। श्री ए० वरदाचारीजी ने 'तेलुगु-वचन (गद्य)-रचना' नाम से गद्य-साहित्य पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थ उपस्थित किया। श्री एम्० एच्० सुब्बरायुडुजी ने 'उपाध्याय-त्रोधिनी' और 'उत्कलेखन चन्द्रिका' लिखी। श्रीपरवस्तु रङ्गाचार्युलु-कृत 'वर्णनिर्णय' भी एक उत्तम कृति है। श्रीकाशीभट्ट ब्रह्मय्याशास्त्री ने भास्कर कवि पर 'भास्कर-रोदंतम्' नामक एक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा। प्रेस की स्थापना के उपरान्त धड़ा-धड़ प्राचीन ग्रन्थ, जो अमुद्रित थे, प्रकाशित होने लगे। उस समय उन ग्रन्थों की भूमिका के रूप में उन काव्यों की जो समीक्षात्मक भूमिका लिखी गई, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। ये आमुख अत्यन्त मूल्यवान् और उपयोगी समझे जाते हैं, और वे वैसे साबित भी हुए। ये आमुख ५-१० पृष्ठ की साधारण आलोचनाएँ नहीं, अपितु ५० पृष्ठों से सौ-डेढ़-सौ पृष्ठों के हैं। हिन्दी में श्रीरामानन्द शुक्लजी और लाला भगवान दीन ने इस प्रकार की भूमिकाएँ लिखी हैं। इसी काल में श्रीवेन्नेटि रामचन्द्ररावजी ने 'मनु-वसु-चरित्र-रचना-विमर्शनम्' नामक तेलुगु-साहित्य के उत्तम महाकाव्य 'मनुचरित्र' और 'वसुचरित्र' पर समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार, तेलुगु-भाषा और साहित्य के क्षेत्रों में खोज का कार्य बढ़ता गया। फलतः समीक्षा-साहित्य का समुचित रूप में विकास होने लगा। अब धीरे-धीरे पाश्चात्य नवीन समीक्षा-पद्धति का

प्रभाव तेलुगु पर पूर्णरूप से लक्षित होने लगा तथा प्राचीन आलङ्कारिक पद्धति पर जो समीक्षा चलती रही, वह क्रमशः लुप्तप्राय होने लगी। तेलुगु-साहित्य में नूतन पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति पर प्रथम ग्रन्थ-रचना करनेवाले श्रीकट्टमञ्चि रामलिङ्गारेड्डीजी थे। इन्होंने महाकवि पिङ्गलि सूरन्ना की कविता-शक्ति का निरूपण करने के अभिप्राय से 'कवित्वतत्त्व-विचारमु' नामक एम सुन्दर समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह अपने ढंग का अद्वितीय है। इसमें समीक्षा-सम्बन्धी कई नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रन्थ ने तेलुगु-साहित्य में तहलका मचा दिया। नये आलोचकों को प्रोत्साहन एवं मार्ग-दर्शन उपलब्ध हुआ। फिर क्या था ? श्रीवङ्गूरि सुब्बारावजी ने तेलुगु-साहित्य का अरबी तरह से अनुसन्धान करके 'आन्ध्र-वाङ्मय-चरित्र' (तेलुगु-साहित्य का इतिहास) लिखा। इससे वे सन्तुष्ट नहीं रहे, अन्वेषण का कार्य चलता रहा। फलस्वरूप, तेलुगु-साहित्य को 'शतक कवुल-चरित्र', 'वेमना' आदि अनेक विमर्शनात्मक ग्रन्थ प्रदान किये। इसके बाद, तेलुगु-साहित्य का इतिहास कई लोगों ने, अपने अपने ढंग से खोज करके, प्रस्तुत किया है। उनमें श्री के० वेङ्कटनायण का 'आन्ध्र-वाङ्मय-चरित्र-संग्रहम्' और श्रीकाशीनाथुनि नागेश्वरराव पन्तुलु-कृत 'आन्ध्र-वाङ्मय-चरित्र' उल्लेखनीय हैं। श्रीखण्डवल्लि लक्ष्मीरञ्जनम्जी ने भी तेलुगु-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास 'आन्ध्र-साहित्य-चरित्र-संग्रहम्' नाम से प्रस्तुत किया है।

तेलुगु-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। उसका सम्पूर्ण साहित्य एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत करना कठिन था। इसके अलावा कुछ आलोचकों ने इस क्षेत्र में गहरी छान-बीन करके दो-तीन ग्रन्थ (साहित्य का इतिहास) प्रस्तुत किये थे। अतः, बाद के आलोचकों ने तेलुगु-वाङ्मय के एकाध युग को अथवा गद्य या पद्य-सम्बन्धी किसी एक शाखा को लक्ष्य में रखकर अनुसन्धान किया और तत्सम्बन्धी समीक्षा-ग्रन्थ तैयार किया। ऐसे लोगों में श्रीटेकुमल्ल अच्युतराव प्रथम हैं। इन्होंने केवल तेलुगु-

साहित्य का स्वर्ण-युग कहे जानेवाले विजयनगर-साम्राज्य के समय के साहित्य पर शोध-कार्य किया। और 'विजयनगर-साम्राज्य-मन्दलि-आन्ध्र-वाङ्मय-चरित्र' नाम से एक उत्तम विमर्शनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। श्रीगोबूरि वेङ्कटानन्द राघवरावजी ने केवल तेलुगु के गद्य-साहित्य की खोज की और 'आन्ध्र-गद्य-वाङ्मय-चरित्र' नामक समीक्षा-ग्रन्थ लिखा। इसमें केवल प्राचीन समय के लेखकों की आलोचना हुई है। श्रीभोगराजुनारायण मूर्ति ने भी तेलुगु-कविता की छान-बीन करके उस पर 'आन्ध्र-कवित्व-चरित्र' नामक एक आलोचनात्मक ग्रन्थ तैयार किया है।

इस समय मद्रास-विश्वविद्यालय में श्रीनिडदवोलु वेङ्कटराव अनुसन्धान का अच्छा कार्य कर रहे हैं। इनके अनुसन्धान ग्रन्थों में अबतक 'तेलुगु-कवुल-चरित्र' (तेलुगु-कवियों का इतिहास) 'आन्ध्र-वचन-(गद्य) वाङ्मयम्' और 'दाक्षिणात्यान्ध्र-साहित्य-चरित्र' उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तेलुगु की प्रसिद्ध साहित्य-पत्रिका 'भारती' में शैव वाङ्मय तथा अन्य विषयों पर जो समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किये, वे अधिक स्थायी मूल्य रखते हैं। इनसे तेलुगु-समीक्षा-साहित्य को और भी बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

इस समय तेलुगु के समीक्षा-साहित्य को समृद्ध करने में अनेक अनुसन्धानकर्ता लगे हुए हैं। श्रीचागण्टि शेषय्याजी तेलुगु-वाङ्मय के समस्त कवियों का समग्र परिचय एक बृहत् समीक्षा-ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। उसका नाम है 'आन्ध्र-कवितरङ्गिणी'। इसके अबतक ४, ५ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। दस भागों में प्रकाशित करने की योजना है। इसमें कवियों का व्यापक परिचय ही नहीं दिया जायगा, वरन् उसके साथ उस समय की सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों का भी परिचय दिया जायगा, जो साहित्य के इतिहास का ही काम देनेवाला सिद्ध होगा। तेलुगु के कवियों की जीवनियाँ और परिचय अनेक लोगों ने प्रकाशित किया है। श्रीवीरेशलिङ्गम्जी ने 'तेलुगु-कवुल-चरित्र' नाम से तेलुगु-कवियों का पूर्ण परिचय (इतिहास) तीन भागों में प्रकाशित

किया है। यह अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है। इससे अनेक लोगों को मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ है। जहाँ कवि और लेखकों ने कवियों की जीवनियाँ प्रकाशित कीं, वहाँ कवयित्री और लेखिकाएँ भी चुप नहीं रहीं। श्रीमती ऊटुकूरि लक्ष्मीकान्तम्माजी ने 'आन्ध्र कवयितुलु' (आन्ध्र-कवयित्रियाँ) नामक समीक्षा-ग्रन्थ लिखा, जिसे 'तेलुगु-भाषा-समिति' से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। डॉक्टर वेलटूरि वेङ्कटरमणय्या ने मथुरा और तंजावर के नायक-राजाओं के समय के आन्ध्र-वाङ्मय की समीक्षा करते, उस युग की समस्त साहित्यिक प्रशस्तियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला और 'आन्ध्र-वाङ्मय-चरित्र' नामक एक सुन्दर समीक्षा-ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ आन्ध्र-वाङ्मय के केवल एक युग पर प्रकाश डालनेवाला है। विजयनगर-साम्राज्य के समय में तेलुगु-साहित्य ने बड़ी उन्नति की। इसके बाद तंजावर और मथुरा के राजाओं के दरबारों में तेलुगु-साहित्य ने अच्छा विकास प्राप्त किया था। श्रीवेङ्कटरमणय्या ने इस युग के साहित्य की बड़ी छान-बीन की और अनेक अज्ञात ग्रन्थों एवं कवियों का परिचय आन्ध्र-जगत् को कराया है।

स्वर्गीय श्रीसुरवरम्प्रताप रेड्डीजी ने आन्ध्रवासियों के सामाजिक जीवन का अच्छा अध्ययन किया और प्राचीन समय से आज तक के आन्ध्र-जीवन का परिचय देनेवाला एक-एक बृहत् ग्रन्थ 'आन्ध्रुल सांघिक-चरित्र' (आन्ध्रवासियों का सामाजिक इतिहास) नाम से प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ को इस वर्ष (१९५५ ई०) भारत-सरकार से ५००० रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

आज तो गद्य और पद्य के प्रायः समस्त प्रकार के अङ्गों और उपाङ्गों का बड़ी तेजी के साथ विकास होता जा रहा है। वाङ्मय की प्रत्येक शाखा और उपशाखा भी बड़ी सूक्ष्मता के साथ खोजी जा रही है। उस शाखा से सम्बन्धित सभी विवरणों का विस्तृत रूप से परिचय भी दिया जा रहा है। मानव अधिक जिज्ञासु होकर वस्तु की जड़ तक पहुँचने और उसके रहस्यों के उद्घाटन करने में प्रवृत्त है। इससे अनेक नये विषयों का पता लग रहा है और मानव का

मस्तिष्क भी विकसित होता जा रहा है। आज तक जो अनाहत-वाङ्मय माना जाता था, वह भी आज साहित्य के अन्तर्गत माना जा रहा है। उदाहरण के लिए लोक-साहित्य की ही बात लीजिए। इसकी बड़ी छान-बीन इस समय हो रही है। इस साहित्यिक शाखा के उद्धार में और इसकी एक सम्यक् रूप से समीक्षा करके विस्तृत रूप से समाज को परिचय कराने के हेतु कई विद्वान् लोग लगे हुए हैं। श्रीहरि-आदिशेषुबुजी ने इस शाखा की खोज करके 'जानपदगेय-विमर्श' (लोक-गीतों की समीक्षा) नाम से एक उत्तम आलोचनात्मक ग्रन्थ तैयार किया है। लेखक के अनुसन्धान-कार्य की प्रशंसा सर्वत्र हुई है। तेलुगु-भाषा-समिति ने पुरस्कार द्वारा लेखक को गौरवान्वित भी किया है। श्रीमट्नूरि रङ्गमेशम्जी ने भी 'तेलुगु-साहित्य में हास्यरस' नामक एक विमर्शनात्मक ग्रन्थ लिखा, इस ग्रन्थ को भी तेलुगु-भाषा-समिति से पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

समीक्षा-साहित्य को इस समय तेलुगु-भाषा-समिति द्वारा सातिशय प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। इस वर्ष (१९५५ ई०) भी तेलुगु-भाषा-समिति ने 'दाक्षिणात्युल-नाट्य-कला-चरित्र' (दाक्षिणात्यों की नृत्य-कला का इतिहास) को, जिसे श्रीनटराज रामकृष्ण ने तैयार किया था, पुरस्कृत किया है। इसके अलावा 'कवित्रय' आदि अनेक समीक्षा-ग्रन्थों को तेलुगु-भाषा-समिति ने पुरस्कृत किया है।

तेलुगु-साहित्य के अनुसन्धानकर्त्ताओं में श्रीवेटूरि प्रभाकरशास्त्री, श्रीकोमरांजु लक्ष्मणराव पन्तुलु, श्रीमल्लादि रामकृष्ण शास्त्री, श्रीराल्लपल्लि अनन्तकृष्णशर्मा, श्रीनेलटूरि वेङ्कटरमणय्या, श्रीपिङ्गलि लक्ष्मीकान्तम् आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने अनेक आलोचनात्मक लेख लिखे हैं, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इनके द्वारा तेलुगु-वाङ्मय और इतिहास का अच्छा परिचय मिलता है। इन लेखों के अलावा श्रीप्रभाकर शास्त्री ने कविसार्वभौम श्रीनाथ-रचित 'शृङ्गार-नैषध' पर 'शृङ्गार श्रीनाथम्' नाम से एक श्रेष्ठ समीक्षा-ग्रन्थ लिखा है। वैसे ही

श्रीअनन्तकृष्णशर्माजी का 'वेमना' भी उत्तम कोटि का समीक्षा ग्रन्थ है। इन्होंने नाटक-साहित्य पर जो भाषण दिये हैं, वे भी समीक्षा-साहित्य की स्थायी मूल्य रखनेवाली वस्तुएँ हैं।

उपर्युक्त समीक्षा-ग्रन्थों के अतिरिक्त समय-समय पर कुछ विद्वानों ने प्राचीन समय के काव्यों की समीक्षा करते हुए बड़ी पुस्तकें ही लिख डाली हैं। उनमें वस्तु, रस, अलङ्कार आदि काव्य-तत्त्वों का विमर्शन हुआ है। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्रीवज्रल सीतारामस्वामीशास्त्री-कृत 'वसुचरित्र-विमर्शनम्', श्रीपूति भूपति लक्ष्मीनारायण-रचित 'भारतमु-तिक्कन-रचना', श्रीवेमूरिवेङ्कटरामनाथम्-कृत 'सौन्दर्य-समीक्षा' श्रीकोराड रामकृष्णय्या-प्रणीत 'आन्ध्र-भारत-कविता-विमर्शनम्' श्रीगडियारम् वेङ्कटशास्त्री-कृत 'श्रीनाथुनि-कविता-साम्राज्यम्' इत्यादि तेलुगु-समीक्षा-साहित्य के उत्तम ग्रन्थ-रत्न हैं।

तेलुगु-साहित्य पर ही नहीं, तेलुगु-भाषा पर भी समीक्षा-ग्रन्थ समय-समय पर रचे गये। देशी विद्वानों के साथ विदेशी पण्डितों ने भी इस कार्य में हाथ बँटाया। श्रीकाल्डवेल ने 'द्रविड-भाषा-व्याकरण' लिखकर तुलनात्मक अध्ययन का श्रीगणेश किया। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अकेला है। श्रीकोराड रामकृष्णय्याजी ने 'भाषोत्पत्तिक्रमम्-भाषा-चरितम्', नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। 'सन्धि' नामक इनका एक दूसरा ग्रन्थ भी इसी कोटि का है। डाक्टर चिलकूरि नारायणरावजी ने 'आन्ध्र-भाषा-चरित्र' नाम से एक बृहत् समीक्षा-ग्रन्थ लिखा। इसमें आपने 'तेलुगु-भाषा' को आर्यभाषा-परिवार की सिद्ध किया है। इस पर वाद-विवाद एवं चर्चाएँ बहुत चलीं। इस ग्रन्थ के उत्तर रूप में श्रीगण्टि सोमयाजी ने 'आन्ध्र-भाषा-विकासम्' और 'द्राविड-भाषालु' (द्राविड भाषाएँ) नामक दो विमर्शनात्मक ग्रन्थों की सृष्टि की। आपने तेलुगु को द्राविड-भाषा-परिवार की करार दिया। इस विषय पर आज भी चर्चा चल रही है।

अब समीक्षकों की दृष्टि आधुनिक युग पर जाकर केन्द्रित हुई है। ४८ तेलुगु का आधुनिक साहित्य बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है।

इस युग में गद्य-साहित्य की अनेक शाखाएँ निकलीं । कविता में भी नई रीतियाँ चलीं । श्रीकुरुगुण्टि सीतारामय्या और श्रीपिल्ललमरि हनुमन्तरावजी ने 'नव्यान्ध्र-साहित्य-वीथुलु' (आधुनिक तेलुगु-साहित्य की रीतियाँ), श्रीदेवुलपल्लि रामानुजरावजी ने 'नव्य कविताः नीराञ्जनम्', श्रीउमाकान्तम् कवि ने 'नेटिकालपु कवित्वम्' (आज की कविता), श्रीजयन्ति रामय्य पन्तुलुजी ने 'आधुनिक आन्ध्र-विकास-वैखरि', श्रीजोन्नलगड्डु सत्यनारायण मूर्ति ने 'साहित्य-तत्त्व-विमर्श', श्री जी० वी० कृष्णारावजी ने 'काव्य जगत्तु' और श्रीवसवराजु अप्पारावजी ने 'आन्ध्र-कवित्व-चरित्र' नाम से आधुनिक कविता पर श्रेष्ठ समीक्षा-ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं । गद्य-साहित्य की शाखाओं पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । श्रीमोहम्मद कासिमखाँ ने 'कथानिका-रचना' (कहानी की रचना) लिखी है । श्रीगोरेंपाटि वेङ्कट सुब्बय्या ने कहानी-कारों पर सुन्दर समीक्षात्मक ग्रन्थ 'अक्षराभिषेकम्' नाम से तैयार किया है । श्रीशोण्ठि कृष्णमूर्ति ने 'कथलु ब्रायडमेला ?' (कहानी कैसे लिखी जाय ?) नाम से कहानी पर आलोचनात्मक पुस्तक लिखी । श्रीपुराणम् सूरि शास्त्रीजी ने 'नाट्योत्पलम्', 'रूपकरसालम्' और 'विमर्शक-पारिजातम्' नाम से नाटक तथा अन्य विषयों पर समीक्षा-ग्रन्थ तैयार किया ।

इस प्रकार, तेलुगु में समीक्षा-साहित्य क्रमशः उन्नति की ओर जा रहा है । कहानी, उपन्यास, नाटक, इत्यादि सभी विषयों पर समीक्षात्मक लेख और ग्रन्थ प्रकाशित होते जा रहे हैं । तेलुगु की प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका 'भारती' में अच्छे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हो रहे हैं । उन लेखों को समीक्षा-साहित्य की निधि कहें, तो अत्युक्ति न होगी । भारती के अलावा 'किन्नेर', 'स्वतन्त्र' आदि पत्रों में भी अच्छे लेख आ रहे हैं । श्रीमल्लमपल्लि सोमशेखर शर्माजी ने इतिहास-सम्बन्धी अच्छी खोज की और अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं । श्रीपट्टपति श्रीनिवासाचामुलु, श्री चिलुकूरि वीरभद्रराव, श्रीकोराड रामकृष्णय्या, आदि अनेक गण्य-मान्य विद्वान् इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं । विश्व-

विद्यालयों में तथा अन्य संस्थाओं में ही नहीं, व्यक्तिगत रूप में भी अनेक लोग इस ओर शोध-कार्य में लगे हुए हैं। इस समय होनेवाले कार्य को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि तेलुगु का समीक्षा-साहित्य उज्ज्वल है और वह किसी अन्य भारतीय भाषाओं के समीक्षा-साहित्य से पिछड़ा नहीं है।



तेलुगु के सन्त कवि

भारत-भूमि अनादि काल से सन्तों का निलय रही है। इस पावनभूमि में समय-समय पर अनेक ऐसे महात्मा एवं सन्त हुए, जिनकी अमृतमय वाणियाँ जन-मन को स्वस्थ एवं परिष्कृत करने में ही सफल नहीं हुईं, अपितु अबोध एवं अज्ञान समाज को आलोक प्रदान कर उसके अन्धकार को दूर करने में भी सहायक रहीं। वैदिक काल से आज तक यह सन्त-परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। वेदों की ऋचाओं में ऐसे ही सन्तों की दिव्य वाणियाँ प्रस्फुटित हुईं और आज के युग में महात्मा गान्धी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्रीविनोबा की अमरवाणी में वे ही दिव्य सन्देश भरे हुए हैं। वैदिक युग के ऋषि-मुनि तथा पौराणिक युग के वाल्मीकि और व्यास ने भी पुण्यभूमि को ऐसी ही दिव्य वाणियाँ प्रदान की हैं। यहाँ हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों के अनेक सन्त हुए हैं। संक्षेप में कहें, तो यहाँ का कोई भी युग ऐसा न था कि जिसमें सन्त नहीं हुए हों। परन्तु, यहाँ हमारा तात्पर्य केवल आन्ध्र-देश से है और तेलुगु-भाषा के माध्यम द्वारा आन्ध्र में प्रचारित सन्त-वाणियों का परिचय देना है। अतः, हम भारत के अन्य प्रदेशों के कबीर, दादूदयाल, नानक, समर्थ गुरु रामदास, नामदेव, ज्ञानदेव, सन्त तुकाराम, सर्वल, अज्जैयार इत्यादि पर विचार करके केवल आन्ध्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

आन्ध्र में समय-समय पर अनेक सन्त हुए हैं। परन्तु हम यहाँ केवल ऐसे सन्तों का परिचय देंगे, जिनकी छाप आन्ध्र पर गहरी पड़ी है, जिनसे यहाँ के लोग प्रभावित हुए हैं और जिनसे यहाँ के समाज को सम्बल मिला है। ऐसे सन्तों में सर्वप्रथम 'सङ्कीर्तनाचार्य' नाम से विख्यात श्रीअन्नमाचार्य का नाम उल्लेखनीय है।

भक्त अन्नमाचार्य—इन्होंने तेलुगु-साहित्य में एक विशेष शाखा के साहित्य का प्रचलन किया है। इनके पूर्व भी तेलुगु में गीत और पद विद्यमान थे, परन्तु उन्हें छन्दों में बाँधकर ताल, लय और राग-रागिनियों में बैठाने का श्रेय अन्नमाचार्य को दिया जा सकता है। आधुनिक युग में सन्त त्यागराज ने जिस पद-साहित्य को उच्च शिखर पर पहुँचाया और चरमावस्था प्रदान की, उसका श्रीगणेश अन्नमाचार्य ने ही किया था। भक्त अन्नमाचार्य ने अन्य सन्तों की भाँति देश का भ्रमण कर अपने सिद्धान्तों का न तो प्रचार किया, न उपदेश दिया। वे पूरे सन्त थे। एक ही स्थान पर बैठकर उन्होंने अपने आराध्य देव की, भजन एवं गायन द्वारा, अर्चना की। श्रीअन्नमाचार्य का ही एक ऐसा परिवार है कि जिनके पुत्र एवं पौत्र आदि सभी ने तिरुपति के प्रसिद्ध भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वर के सान्निध्य में अपना सारा समय बिताया और उनकी सेवा में अपने-आपको लगाया।

श्रीअन्नमाचार्यजी का जन्म (सन् १४२३—१५०२ ई०) आन्ध्र-देश के कडप्पा जिला, राजपेट तालुके के 'ताल्लपक' नामक एक छोटे-से गाँव में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। ये २६ वर्ष की अवस्था में आन्ध्र के प्रसिद्ध तीर्थ तिरुपति चले गये और वहीं भगवान् वेङ्कटेश्वर की उपासना में लगे रहे। भक्त होने के कारण इनकी भक्ति की धारा हृदय-गह्वर से गीत एवं पदों का रूप धारण कर बह चली। ये सदा भक्ति-भाव में लीन हो, घण्टियाँ बाँधे, तम्बूरे के तारों को निनादित करते अपना समय भगवद्-भजन में बिताते थे। ये भगवान् वेङ्कटेश्वर पर आशुरूप में नित्यप्रति पद बनाते थे और गाते भी थे। इनकी भक्ति और कविता-शक्ति की

कीर्ति शीघ्र ही चतुर्दिक् व्याप्त हो गई। विजयनगर के राजा को जब पता चला, तब उन्होंने अन्नमाचार्य की भक्ति पर मुग्ध होकर उन्हें विजयनगर बुलाया और उनका उचित आदर-सत्कार किया। अन्नमाचार्यजी हमेशा निर्लित रहते थे। और स्वान्तःसुखाय ही पद बनाते एवं कीर्त्तन करते थे। लेकिन उन सब में जग-मंगल की कामना अन्तर्भूत है। इसलिए इन्हें अपने जीवन-काल में जो यश और सम्मान प्राप्त हुआ, उससे हमें इनकी लोकप्रियता का परिचय मिलता है।

श्रीअन्नमाचार्यजी भक्त और कवि थे। इसलिए, भगवान् की उपासना में नित्यप्रति पद बनाकर गाया करते थे। इस प्रकार, इन्होंने कुल ३२६००० गीत या कीर्त्तन बनाये। इसलिए ये सङ्कीर्त्तनाचार्य नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आज इनके पूरे पद हमें उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु अधिकांश पद ताम्रपत्रों में खुदे प्राप्त हुए हैं। ये सब भगवान् वेङ्कटेश्वर के मन्दिर के एक कमरे में सुरक्षित हैं, जो 'ताल्लपाकवारिकोट्टु' (ताल्लपाक वालों की कोठी) नाम से विख्यात है।

अन्नमाचार्य के पदों को हम स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) अध्यात्म-कीर्त्तन और (२) शृङ्गार-कीर्त्तन। इनमें बालकोपयोगी, महिलोपयोगी पद भी हैं, जो आन्ध्र के बच्चों को जन्मघुटी में ही सिखाये जाते हैं। इनकी अच्युतानन्दवाली लोरी, विशेष प्रसिद्ध है। अन्नमाचार्यजी केवल भक्त और कवि ही नहीं थे, बल्कि एक बहुत बड़े संगीतज्ञ भी थे। इन्होंने अपने पदों में लगभग ६० राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। उनमें शङ्कराभरण, कम्भोजी और भैरवी मुख्य हैं। इनके गीत साहित्य और सङ्गीत के समस्त लक्षणों से पूर्ण हैं। इसके अलावा इन कीर्त्तनों में प्रजा के लिए आवश्यक धर्म, नीति आदि के तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है, जिनसे उस युग के प्रतिनिधित्व में काफी सहारा प्राप्त हुआ था।

सन्तवीरब्रह्मम्—पोतुलूखीरब्रह्मम् नाम से विख्यात सन्तवीर-ब्रह्मम् जन्मना सिद्ध थे। बचपन से ही इन्होंने कुछ ऐसे अलौकिक कार्य

कर दिखाये, जिनसे इनकी महत्ता का मूल्याङ्कन किया जा सकता है। इनका जन्म-वृत्तान्त कबीर का स्मरण दिलाता है। परन्तु ये एक विधवा से उत्पन्न बालक नहीं थे। एक दम्पति काशी आदि से तीर्थाटन कर लौट रहे थे। जब वे यतिमुनीन्द्र के आश्रम के समीप पहुँचे, तब भगवत्प्रसाद से उन्हें एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, परन्तु वहीं उस बालक के पिता का देहान्त हो जाने के कारण वह असहाय नारी इस शिशु को भी त्यागना चाहती थी। उस नारी के आर्तनाद को सुन कर यतिमुनीन्द्र वहाँ पहुँच गये। उस पतिव्रता नारी ने अपने उस शिशु को यतिमुनीन्द्र के अधीन कर दिया और स्वयं पति का अनुगमन कर उनसे स्वर्ग में जा मिली। मुनीन्द्र ने उनका दाह-संस्कार कर उस बालक को अपने एक भक्त दम्पति को दिया। यही बालक बाद में वीरब्रह्मम् के नाम से विख्यात हुआ है।

वीरब्रह्मम् की शिक्षा के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस महात्मा ने अपनी १४ वर्ष की अवस्था में ही ६४ विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। कुछ लोगों का अभिप्राय है कि वीरब्रह्मम् ने १२ वर्ष की अवस्था तक थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्त की। तदुपरान्त बनगानपल्ले (कर्नूल जिला) में गरिमिरेड्डी अच्चेम्मा नामक एक साधुशीला के घर गोपालक निमुक्त हुए। कुछ भी हो, जब इनके पोषक पिता का देहान्त हो गया, तब वीरब्रह्मम् वैरागी हुए। इन्होंने समस्त दुःखों का कारण परिवार को माना और इस मायापूर्ण जंजाल से दूर रहने का निर्णय किया। इसके बाद सन्त बनकर देश के समस्त तीर्थों और क्षेत्रों के दर्शन करने को निकले। उस समय पालन करनेवाली माता वीरब्रह्मम् को रोकना चाहती है, लेकिन वीरब्रह्मम् उन्हें मुक्ति-मार्ग का उपदेश देते हैं—“यह संसार मिथ्या है। मनुष्य कर्म-बन्धनों के कारण आवागमन के चक्कर में पड़ा हुआ है। पति-पत्नी, बच्चे, माता-पिता ये सब बुद्बुद के समान हैं, माया से पूर्ण हैं, परन्तु अज्ञान मनुष्य शरीर को शाश्वत मानकर उसी के पोषण में लगे रहते हैं। वास्तव में यह शरीर अस्थि-चर्म-मात्र है, परन्तु इस देह में

स्थित परमात्मा उक्त सभी के ज्ञाता है ।” इसी सिलसिले में पण्डितपोत्ति का क्रम, जीव के चतुर्दश लक्षण, तथा तारक-मन्त्रोपदेश कर अपने विश्वरूप का परिचय देते हैं। वीरब्रह्म ने सांख्य का भी परिचय दिया है। शरीर के उत्पादक तत्त्वों का भी परिचय इस प्रकार दिया है—

ॐ, ह्रीं, श्रीं शिवाय ब्रह्मणे नमः ।

ॐ, नमः शिवाय ।

श्लोक : ओंकारे देवी वदनं वा यकार भुजद्वयं ।

शिकारं देह मध्यं च नमकार पादद्वयं ॥

अपनी पोषिका माता से आज्ञा लेकर वीरब्रह्म तीर्थाटन के लिए चल दिये। उस समय अपने शरीर से अच्छे-अच्छे वस्त्रों और भूषणों को उतारकर भभूत लगाया, रुद्राक्ष-माला एवं काषाय-वस्त्र धारण कर, दण्ड, कमण्डल और जपमाल्य लिये और समस्त तीर्थों में गये। वहाँ अद्वैत-सिद्धान्त का उपदेश भी किया। समस्त क्षेत्रों की यात्रा समाप्त कर बनगानपल्ले लौट आये और श्रीगरिमिरेड्डी अच्चेम्मा के घर में गोपालक नियुक्त हुए।

यों तो, इन्होंने बचपन में ही अनेक अद्भुत कार्य किये थे। परन्तु, बनगानपल्ले में इन कार्यों से उन्हें अधिक ख्याति प्राप्त हुई। यहीं गायों को चराते इन्होंने ‘काल-ज्ञान’ लिखा। इसमें भविष्य में होनेवाली घटनाओं का दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व ही इस महात्मा ने उल्लेख किया है। वे आज भी घट रही हैं। ये भविष्यद्रष्टा और कान्तदर्शी थे। स्थानाभाव के कारण हम उन सब बातों का उल्लेख यहाँ नहीं कर पा रहे हैं।

सन्तवीरब्रह्म गुरु की महत्ता को प्रधानता देते थे। लेकिन, इनका तत्त्वमार्ग योगानुसारी अद्वैत है। सगुण ब्रह्म का अतिक्रमण कर इन्होंने ‘नेनेब्रह्ममुरा पामरुलारा नेनेब्रह्ममुरा’ (मैं ही ब्रह्म हूँ, हे पामर ! मैं ही ब्रह्म हूँ), अर्थात् ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इस महावाक्य को शुद्ध तेलुगु में यह रूप प्रदान किया है।

श्रीवीरब्रह्मजी ने वे सब कार्य किये, जिन्हें श्रीकबीर ने किया । (१) ये महात्मा हिन्दू और मुसलमानों में एकता लाना चाहते थे । (२) जाति-पाँति के भेद-भावों का अन्त करना चाहते थे । (३) इनके शिष्यों में सभी जातियों के स्त्री और पुरुष हैं । (४) वीरब्रह्म तथा इनके सभी शिष्य गृहस्थ होते हैं । इनका अभिप्राय था कि मनुष्य संन्यास ग्रहण किये बिना ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है । (५) कर्म-काण्ड को प्रधानता न देकर (६) आत्म-संस्कार को प्रधानता दी (७) मुक्ति के साधन योग एवं ज्ञान है, भक्ति भी उनका एक अंग कही जा सकती है, यही इनका मत था ।

वीरब्रह्मजी ने अनेक तत्त्व, पद और गीत लिखे हैं । प्रायः इनकी सभी रचनाएँ व्यावहारिक भाषा में हैं । अपने सिद्धान्तों एवं आशयों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के अभिप्राय से इन महात्मा ने सर्वजनसुबोध भाषा का प्रयोग किया है । उपनिषद् के कठिन सूत्रों को भी वीरब्रह्मजी ने ललित भाषा में समझाया है । इनका अधिकांश साहित्य नष्ट हो गया है । इसका कारण जनता का अज्ञान और पण्डितों द्वारा निरादर तथा उपेक्षा कहा जा सकता है । आज कुछ भक्तों और भिखारियों की जबान पर बहुत कुछ तत्त्व उपलब्ध हैं और कुछ तो प्रकाश में भी आये हैं । भक्त आज भी तन्मय हो उन पदों तथा तत्त्वों को गाया करते हैं । इनमें दर्शन, वेदान्त, नीति आदि भरे हुए हैं । इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन काल-ज्ञान-प्रवचन है, जिसमें भविष्य बताया गया है । इस महात्मा ने अँगरेजों के आगमन के पूर्व ही गोरों का आगमन और शासन, बनिये के घर में महात्मा गांधी का जन्म इत्यादि अनेक बातों को बहुत समय पूर्व ही बताया था ।

महात्मा कबीर की भाँति इनके भी विभिन्न वर्णों और धर्मों के शिष्य थे । डोम-चमार जाति के कक्कया, ब्राह्मण जाति के करणम गोविन्दय्या और अन्नाजय्या रेड्डी-वंश के वेङ्कटरेड्डी और अच्वम्मा, मुसलमान जुलाहा सिद्दय्या इत्यादि वीरब्रह्मजी के अनेक शिष्य थे ।

वीरब्रह्मम् जाति और वर्ण को प्रधानता नहीं देते थे, बल्कि गुण तथा सदाचार पर अधिक जोर देते थे। यहाँ हम वीरब्रह्मम् तथा उनके कुछ शिष्यों के तत्त्वों का उल्लेख कर आगे बढ़ते हैं। कबीर की भाँति वीरब्रह्मम् ने भी बाह्याडम्बर, वर्ण-व्यवस्था अन्धविश्वास आदि का खण्डन किया है। भक्ति-रहित तीर्थाटन का भी इन्होंने खण्डन किया है।

तत्त्व—एतलेक्क दिरिगिन नेमि लेदुरा,
चिन्तजेसि चूडकुत्र विन्तलेदुरा।
मुक्कु दिक्कु एक्कु वेक्कि निक्कि चूडरा,
आक्कि मूल मेमोगानि दिव्यमायरा ॥ एत ॥
मुसुकुलोने मुसुकु वेसि पोसग चूडरा।
आमुसुकुलोने मुसुकु दीसि मुक्ति चूडरा ॥ एत ॥
आकसमुन गालिविसरे नदिगे चूडरा
आगालि मूलमोमोगानि मूल चूडरा ॥ एत ॥
मूल मूल शोधिचि मुक्ति चूडरा
आ मूल नुन्न ज्योति नि मटिटंचि चूडरा ॥ एत ॥

०

०

एरुपु नलुपु तेलपुलदि येमो चूडरा
पच्च पसुपु कलसि नटिटि पममायेगा ॥ एत ॥
सत्तु चित्त नोक्क टैते शिवुनि पेरुरा।
आसत्तु पोतुलूरि ब्रह्मम्स्वामि पेमुरा ॥ एत ॥

भावार्थ—‘विना चिन्तन-मनन किये केवल घूमने से प्रयोजन नहीं। चाहे कितने ही तीर्थों में क्यों न गये हों। अपने सामने यानी सीधे देखो और उस दिशा का मर्म अथवा महत्त्व समझो। इस माया-जाल से पूर्ण पर्दे में देखो और उसी माया में रहते हुए उस पर्दे को हटाओ, तो मुक्ति को देखोगे। देखो, आकाश-मार्ग में हवा चल रही है। इस हवा के चलने का मूल कारण क्या है? परखो। इस तरह सृष्टि के चलने का मूल कारण समझो और उसके मूल में स्थित ज्योति को जलाकर देखो।’

‘वह सफेद, लाल, और काले रंग क्या हैं ? हरे और पीले रंगों से पूर्ण पद्म हो गया । सत् और चित् का मिलन शिव कहलाता है । वह सत् पोतुलूर वीरब्रह्म का नाम है ।’

श्रीवीरब्रह्म ने कबीर की भाँति गुरु की महत्ता मान ली । ‘गुरु बुलेनि बाट जूटा, गुरु गीलक मेरुगुट बाटा । मग्गुरु मूर्तूलु जूटा मूलसु एरुगुट बाटा । मरिमन्त्रबुलु जूटा मदिलो नेरुगुट बाटा । काशिकि पोय्येदी जूटा मन कंटिलो येरुगट बाटा ।’

‘भावार्थ — गुरु विना कौन बतावे बाट, गुरु के मूल और महत्त्व को जानना ही सुन्दर मार्ग है । तीनों मूर्तियाँ (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) भूठ हैं, उसके मूल में स्थित निगुण ईश्वर को समझना मुक्ति का मार्ग है । तन्त्र-मन्त्र सब भूठ हैं । मन में ईश्वर को बैठाना उत्तम मार्ग है । काशी इत्यादि तीर्थों में जाना व्यर्थ है । ईश्वर को नेत्रों में केन्द्रित करना मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है ।’

श्रीवीरब्रह्म के अनेक शिष्यों में दूदे कुल सिद्ध्या प्रधान एवं पहुँचे हुए शिष्य हैं । सिद्ध्या के तत्त्व भी आन्ध्र में बड़े प्रेम और चाव के साथ गाये जाते हैं । जनपदों में आज भी इनका अच्छा प्रचार है । इन्होंने जाति-पाँति का खण्डन किया है ।

‘एकुलमनि ननु विवर मडिगिते येमनि तेलुदु लोक

लकु पल गाकुलुकु, दुर्मागुलुकु नी दुष्टुलुकु ॥’

जाति के पूछने पर इन दुष्टों को मैं क्या बता सकता हूँ ? एक दूसरी जगह इन्होंने कहा है—‘कुल मैयमानेल गुणमे कारणमु...’, मनुष्य की जाति से कोई मतलब नहीं, उसके गुण ही देखना चाहिए । यहाँ हमें कबीर का ‘जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान’ वाला दोहा बरबस स्मरण हो आता है ।

ध्यान से देखने पर हमें पता चलेगा कि भारत के सभी प्रदेशों के सन्तों में काफी समानता रही है । श्रीवीरब्रह्म ने परम्परा को प्राप्त कर लिया था । परन्तु उसका अनुभव बताना वे असम्भव मानते हैं ।

‘अडिनगिपुडु चेप्पगूडुना ब्रह्मानुभवमु आत्मानुभवमु ।’

ब्रह्मानुभव तथा आत्मानुभव स्वरूपतः कैसे बताया जा सकता है ? वह गूँगे के गुड़ के समान है। यही भाव हम कबीर में भी देखते हैं।

योगी वेमना—सन्त कवियों में वेमना को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस महात्मा ने आन्ध्र में जिस तत्त्व-मार्ग का प्रचार किया, वह शैव मत से प्रभावित है। इन्होंने अपने अनुभव, अध्ययन एवं सत्सङ्ग द्वारा जो कुछ ज्ञानार्जन किया, उसके आधार पर अपनी बुद्धि को जो अच्छा भाया, उसकी प्रशंसा की और जो बुरा मालूम हुआ, उसका विना सङ्कोच के खण्डन किया है। प्राचीन सम्प्रदाय, रूढ़िवाद एवं अन्धविश्वासों का निर्दयतापूर्वक, पर निष्पक्ष रूप से खण्डन किया है। सामाजिक दुराचारों का खण्डन कर स्वार्थियों के कूट-सिद्धान्तों का अनुगमन करनेवालों को आलोक प्रदान किया है।

इनका जन्म एक सुसम्पन्न रेड्डी-परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में ये अधिक भोग-विलास में लित रहे। जब इनकी आँखें खुलीं, तब योगी हो गये। इस प्रकार इन्होंने इह और पर दोनों को प्राप्त किया है। ये अद्वैतवाद को माननेवाले थे। परन्तु कर्मकाण्ड को प्रधानता नहीं देते थे। इनका अद्वैत शैवपरक है। इसमें वर्ण-व्यवस्था का विचार नहीं किया जाता है। इस प्रकार अपने शैव सम्प्रदाय की विशेषताओं को आधार बनाकर अपने अद्वैत-सिद्धान्त का नये रूप में कविता द्वारा प्रचार किया है। शैव सम्प्रदाय में योग-साधना को अधिक प्रधानता दी जाती है। इसका कारण स्वयं शिवजी का महान् योगीश्वर होना ही है।

वेमना जब भोग-विलास को तिलाञ्जलि देकर तपस्या में लीन हो गये, तब फिर उन्हें संसार का ध्यान बिल्कुल नहीं रहा। योग-साधन में ऐसे लीन हो गये कि कुछ समय के बाद दिगम्बर होकर साधना की। उन्हें अपने शरीर तक का खयाल नहीं रहा। वे स्वयं ब्रह्ममय हो गये थे। और, अपनेपन को ही भूल बैठे। ऐसी दशा में उस महान् साधक के मुँह से जो कुछ भी स्वानुभव कविता-रूप में व्यक्त हुआ, वह अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है।

वेमना ने बाह्याडम्बर का घोर विरोध किया और मन को पवित्र बनाये रखने पर जोर दिया ।

‘चित्तशुद्धि लेनि शिवपूज लेलरा ?’

विना चित्त की शुद्धि कर ली, तो शिव की पूजा क्यों करें ? व्यर्थ ही है । वेमना ने अपने अनुभव को संसार के सामने रखा है । वे पहुँचे हुए महात्मा थे । एक जगह उन्होंने कहा है—

‘निन्नु जूचुचुंड निडुनु तत्त्वंबु

तन्नु जूचुचुंड दगुलु माय

निन्नु नेरिणि नपुडे तन्नु दानेरुगुनु ।’

हे भगवान् ! तुमको देखते रहने से हम पर-तत्त्व से भर जाते हैं, लेकिन जब अपनी ओर ध्यान देते हैं, तब इस माया-जाल में फँस जाते हैं । इसलिए, जो व्यक्ति तुम्हें जानता एवं पहचानता है, वही स्वयं को भी जान सकता है ।

वेमना ने यह अनुभव किया था कि पत्नी, पुत्र इत्यादि परिवार के मोह में पड़ने तथा सम्पत्ति की वाञ्छा करने से मानव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है, इसलिए वैरागी हो गये । इनकी महती साधना पर मुग्ध हो इनके अनेक शिष्य हो गये थे । और, वे भी सभी इनके साथ हो जाते थे । उनके प्रश्नों का उत्तर वेमना पद-रूप में देते जाते थे । इस प्रकार, इनके लगभग ३००० तक पद हो गये हैं, परन्तु अब केवल ७००-९०० मात्र उपलब्ध हैं । साधना और भी तीव्रतर हो गई, तो ये दिग्गम्बर हो गये । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा भी है—

‘तल्लिगर्भमुन दा बुट्टि मप्पुडु

मोदट बट्ट लेदु तुदनुलेदु

नडुम बट्ट कट्ट नमु बादु का दोके’

माता के गर्भ से जब हमारा जन्म हुआ, उस समय हमारे शरीर ६० पर वस्त्र नहीं था । और, जब हमारी मृत्यु हो जाती है, उस समय

देह पर वस्त्र नहीं रहता है। तो, जन्म-मृत्यु के मध्यकाल में वस्त्र धारण करना क्या हँसी की बात नहीं है ?

समय-समय पर इन्होंने जो पद अपने शिष्यों से कहे, वे सूक्तियाँ बनकर आज भी आन्ध्र की जनता के कण्ठाग्र में स्थित हैं। वेमना जैसे और कोई भी कवि या सन्त इतने लोकप्रिय नहीं हुए हैं।

वेमना भी गुरु की महत्ता को मानते थे। इन्होंने स्वयं एक योगी से दीक्षा ली थी। यह कहानी बड़ी ही विचित्र है। वह इस प्रकार है—

‘कोंडुवीडु में अभिरामय्या नामक एक भक्त रहा करते थे। वे लम्बिकायोगी नामक एक गुरु की सेवा नित्य प्रति किया करते थे और उनसे मन्त्रोपदेश लेकर दीक्षित होना चाहते थे। एक दिन उस योगी ने अभिरामय्या से कहा कि कल सवेरे आओ, मन्त्रोपदेश करूँगा। इसे वेमना ने आड़ से सुना। दूसरे दिन वेमना ने अभिरामय्या को एक जगह छिपा रखा और वे योगी के पास गये। योगी से वेमना ने कहा—‘हे महात्मन्। अभिरामय्या आपके यहाँ नहीं आ सके और मुझे आपकी सेवा में भेजा है।’ तब उस शिवयोगी ने यह कहकर वेमना को मन्त्रोपदेश किया कि ‘वह अभागा है, तू ही आ’। मन्त्रोपदेश को प्राप्त करने पर वेमना को ज्ञानोदय हुआ। ज्ञानी वेमना ने अभिरामय्या से क्षमा माँगी। इस प्रकार, वे ज्ञानी हो पारिवारिक बन्धनों से मुक्त हुए और मुक्ति की खोज में निकले। इनका लोकानुभव अद्वितीय था। नीति एवं आत्मासम्बन्धी इनके उपदेश सबके लिए अनुकरणीय हैं। सच्चरित्रता पर इनके विचार देखिए—

‘अन्तरङ्ग मुन्दु नपराधमुलु चेसि,
मञ्चिवानि वलेने मनुजुड्डु
नितरुलेरुग कुन्न नीश्वरुडेरुगडा?’

मनुष्य अपराध करके उन्हें गुप्त रखकर भले आदमी की तरह व्यवहार करता है। इस बात को भले लोग न जाने, लेकिन कम-से-कम ईश्वर तो जानता है।

सहनशीलता एवं समय की आवश्यकता पर इनके विचार देखिए—

तामसिञ्चि जेय तगदेट्टि कार्यबु
वेगिरिंप नदिमु विषम मगुनु
पच्चिकाय देच्चि पडवेय फल मौने ?

कोई भी कार्य बहुत ही देरी से भी नहीं करना चाहिए और जल्दी करने से उसमें खराबी आ जाती है। क्या कच्चे फल लाकर रख देने मात्र से वह फल होगा ? इनके कुछ और अनुभव हृद्य हैं—

आशाकंटे दुख मतिशयंपगलेदु
चुपु निपुल कुन्न सुखमुलेदु
मनसु निलुपकुन्न मरि मुक्ति ले दया ?

इस विश्व में आशा से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। अपनी दृष्टि को केन्द्रित किये विना सुख-प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। भगवान् पर मन लगाये विना दूसरा मुक्ति-मार्ग भी नहीं। इसी प्रकार, दानों में अन्नदान, गानों में सामगान, और ध्यान में शिवध्यान की महत्ता आपने बताई है। गुरु की महत्ता बताते हुए आपने एक पद्य में कहा है— गुरु के विना ठीक तरह से विद्या प्राप्त नहीं होती। राजा के विना राज्य नियन्त्रण में नहीं रहता है। वैसे ही गुरु और शिक्षा प्राप्त किये विना कोई पण्डित होगा ? कदापि नहीं। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

क्षेत्रय्या—श्रीक्षेत्रय्या का नाम बाल्यकाल में वरदय्या था। ये कृष्णा जिले के मोव्व नामक एक ग्राम में पैदा हुए। वहीं इन्होंने तेलुगु और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया और अपने गाँव के समीप स्थित 'कूचिपूडि' चले गये और वहीं संगीत और अभिनय का अच्छा अभ्यास किया। इस कूचिपूडि कला-केन्द्र की कहानी अत्यन्त रोचक और मनोरञ्जक है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व एक शाम को कृष्णा नदी के किनारे मुरली बजाते एक तपस्वी जा रहे थे। वे धीरे-धीरे एक ग्राम के पास पहुँचे, तो गाँव के समीपस्थ वृक्षों के

बीच एक मृदु-मधुर राग-ध्वनि गूँज उठी। उस ध्वनि-माधुर्य का पान करते योगी निश्चल खड़े रहे। उस अस्पष्ट प्रकाश से निकलकर एक दस वर्ष का बालक योगी के पास पहुँचा और विनय के साथ उनसे प्रार्थना की—‘तपस्वी ! चलिए तो.....’। उस बालक की भक्तिपूर्ण वाणी की मधुर ध्वनि सुनाई दी। और उसके कोमल शरीर में अभिनय के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। एक ऐसे ही बालक की खोज में थे योगी भी। उसको प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुए और वहीं अपना निवास बना लिया। यही बालक बाद में बान्ध की नृत्य-कला को, जो कुचिपूडि-नृत्यकला-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है, प्रकाश में लाया और वे तपस्वी सिद्धेन्द्र योगी थे। यही आगे चलकर भरत-नाट्य-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध केन्द्र बना। और यहीं पर क्षेत्रय्या ने सङ्गीत और अभिनय की शिक्षा प्राप्त की।

क्षेत्रय्या ने इसके उपरान्त उत्तर और दक्षिण के प्रायः सभी मुख्य तीर्थों (क्षेत्रों) का दर्शन-सेवन किया, इसलिए उनका नाम वरदय्या से परिवर्तित हो क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्रय्या हो गया है। क्षेत्रय्या संस्कृत, तेलुगु, सङ्गीत और अभिनय के बहुत बड़े पण्डित थे। जिन-जिन क्षेत्रों में वे गये, वहाँ के प्रसिद्ध देवता के नाम पर इन्होंने अनेक पद और कीर्तन रचे। काञ्चीवरम् में वरदराजस्वामी के नाम तथा पुण्यग्राम के गोपालस्वामी के नाम पर रचित इनके गीत अद्भुत हैं। क्षेत्रय्या ने अपने पदों में नायक-नायिका-भेदों का अच्छा निरूपण किया है। आत्मा और परमात्मा को नायिका और नायक के रूप में इन्होंने चित्रित किया है।

श्रीक्षेत्रय्या भ्रमण करते हुए दक्षिण में पहुँचे। वहाँ तंजावर के राजा विजयराघव नायक के दरबार में गये। वह राजा बड़े कला-प्रेमी और कवि थे। क्षेत्रय्या की विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उन्हें अपने दरबार में स्थान दिया। ये अनन्य भक्त भी थे। कहा जाता है कि इनकी भक्ति पर मुग्ध हो एक बार भगवान् कृष्ण ने ही इनके दर्शन किये थे। क्षेत्रय्या की भक्ति सख्य-भाव की थी। इस सख्य-भाव में

पत्नी-भाव भी निहित था। इस माधुर्य-भाव से ही क्षेत्रय्या ने अपने इष्टदेव की उपासना की। शृङ्गार-रस से ओत-प्रोत आपने अनेक पद बनाये। जिन्हें कुछ लोगों ने अश्लील मानकर उनका विरोध भी किया।

नृत्य और गान-कला में भी साधारण काम-प्रधान प्रेम से उसकी मलिनता को दूर कर आत्मा और परमात्मा का पवित्र प्रेम-बन्धन मिलाया गया है। भक्तों ने अपने को आत्मा (नायिका) और भगवान् को परमात्मा (नायक) मानकर पदों की रचना की है। इसलिए क्षेत्रय्या के पदों में अभिनय के लक्षण स्पष्ट लक्षित हैं।

क्षेत्रय्या संस्कृत के बड़े पण्डित थे। फिर भी, उन्होंने सर्व-साधारण के उपयोगार्थ अपने पदों को शुद्ध तेलुगु में ही लिखा है। स्थूल दृष्टि से ये भले ही अश्लील दिखाई दें, परन्तु उनके मूल में माधुर्य-भावपूर्ण आत्म-समर्पण है। यहीं इनकी भक्ति चरमावस्था को प्राप्त होती है। एक भक्त अपने-आपको भगवान् के चरणों में अर्पित करता है। क्षेत्रय्या ने कुल ५,००० पद बनाये हैं। परन्तु छह सौ पद अबतक प्राप्त हुए हैं। इनके पदों में चमत्कार, पद-लालित्य और भाव-गम्भीर्य देखते ही बनता है। क्षेत्रय्या का समस्त जीवन कला की आराधना और भगवद्-भजन में व्यतीत हुआ। ये भी पैरों में चिरुघंटियाँ बाँध नृत्य करते, गीत गाते और भगवान् की पूजा में तल्लीन रहा करते थे। इनकी साधना व्यक्तिगत है। लोगों में जाकर इन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार नहीं किया। इनकी रचना भी स्वान्तःसुखाय होती थी। इनके पदों में राग, ताल, लय आदि तत्त्वों के साथ, जैसा पहले संकेत किया है, नायक-नायिका-लक्षण भी है। हम उदाहरण के लिए एक पद यहाँ दे रहे हैं —

‘अट्टे युडेवु सुमो ना प्राणनाथ
अट्टे अटुंड किन्दु वच्चेदनवि
यान वेट्टितिवि सुमी, ना प्राणनाथ
इन्तलो नीवीडकु राकुंडे

अग्निरु कावेरी काबुल सुमी
 यिन्तिन्त नी केम्मेवी तेने लानकुंटे
 यिदिगो नारेंडेनु सुमी, ना प्राणनाथ
 विनरा नीवु कौगिट लेकुंडे
 पुन्नमि वेन्नेल बेडि सुमी
 वनजाक्षा, नी वीडकु वच्चेदा का
 तलवाकिली इल्लु सुमि प्राणनाथ
 परिचि एवते तो नंना
 माटलाडेवु गनुक—

मनसु विरचेदरु सुमी,
 शरणु मुव्व गोपाल, ईरेयिकूड
 जागु सेयकने रम्मी ना प्राणनाथ ।'

‘हे नाथ ! तुम वहीं पर न रहना । शीघ्र ही वापस लौटने का तुमने वचन दिया है । तुम्हारे न आने से मेरी अश्रु-धारा कावेरी की नहर बनकर बहेगी । तुम्हारे अरुण अधरों के चुम्बन से मेरे ओठ सिक्त न रहने के कारण सूख गये हैं । तुम्हारे वियोग में मुझे पूर्णिमा की चाँदनी भी गरम मालूम हो रही है । हे मेरे प्रिय विष्णुभगवान् ! तुम्हारे वापस लौटने तक यह देहली ही मेरा घर रहेगी, अर्थात् मैं इस देहली पर बैठकर तुम्हारी बाट जोहती रहूँगी । तुम वहाँ भूल से भी अन्य कान्ताओं से बात न करना । वे तुम्हारे मन को तोड़ देंगी । उनके प्रेम में फँसकर मुझे भूल जाओगे । हे मुव्व गोपाल, इस रात्रि को शीघ्र आ जाना । मैं तुम्हारी शरण में रहना चाहती हूँ ।’

इसमें नायक और नायिका के वियोग का सहज चित्रण है । इन्हें आध्यात्मिकता में रंग देने पर ही सन्त-वचन माने जाते हैं । उनका दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न होता है ।

रामदास — सन्त-कवियों में भक्त रामदास अपनी विशिष्टता रखते हैं । बचपन से ही भक्ति की ओर इनका झुकाव था । बचपन में जब ये बालरामायण पढ़ते थे, उसी समय अपने माता-पिता से कहा था

कि मैं भी रामायण-काल में पैदा हुआ होता, तो रामचन्द्र का प्रधान सेवक हो उनकी सेवा में लगा रहता। राक्षसों का संहार करता, हनुमान् से पहले ही लङ्का जाकर जगज्जननी जानकी को देख आता और सियाराम को अपनी भुजाओं पर बिठाकर क्षण-भर में अयोध्या पहुँचाता। ये विष्णु-भक्त थे। राम इनके आराध्यदेव थे। रामचन्द्रजी के चरणों में इनका पूर्ण विश्वास था। ये गाया करते थे—

चरणमु ले नम्मिति रामा नी दिव्य ॥ चरण० ॥

बनमुन रातिनी वनितग जेसिग ॥...

‘हे राम, मैंने आपके दिव्य चरणों पर भरोसा रखा है, जिन चरणों ने वन के एक पत्थर को वनिता बना दिया।’

रामदास ने बचपन में ही संस्कृत और तेलुगु का अच्छा अध्ययन किया। ये पुराण का पाठ करने में समय बिताया करते थे। कुछ समय के बाद गोलकोण्डा के नवाब के यहाँ तहसीलदारी की। उस समय रामचन्द्रजी के प्रति इनकी भक्ति और भी दृढ़ हो गई। एक दिन जब ये भगवद्भजन में लगे हुए थे, उस समय उन्हें यह पद सुनाई दिया—‘राम-नाम का मर्म न जाने कलि-काल का भूत। साहब का घर दूर है बेजे सेल बिकजूर।’ यह ध्वनि रामदास के कानों में गूँज उठी। तुरन्त बाहर आकर देखते हैं। एक काषायवस्त्रधारी फकीर आकर रामदास के घर के सामने रुक गया। वह फकीर और कोई नहीं, कबीरदास थे। रामदास के आग्रह पर कबीरदास ने उन्हें दीक्षित किया। जब उन्हें ज्ञानोदय हुआ, तब आनन्द-विभोर होकर गाना आरम्भ किया।

‘तारक मन्त्रमु कोरिन दोरकेनु।

धन्युउनैतिनि ओ रन्ना’

मैं जिस तारक-मन्त्र को चाहता था, वह मिल गया। इसलिए, मेरा जन्म धन्य हो गया।

रामदास ने भक्तिवश राजकीय कर के छह लाख रुपये गोलकोण्डा के नवाब को चुकाये बिना राममन्दिर में लगा दिया। धीरे-धीरे इनकी

भक्ति, वैराग्य और निवृत्ति बढ़ती गई। अपने कर्तव्यों का खयाल तक छोड़कर भगवद्ध्यान में लगे रहे। ये राम के ध्यान में ही रामदास हो गये। साधना पक्की हो गई। अपनापा का खयाल नहीं रहा। एक बार चैत्र शुक्ला नवमी (श्रीरामनवमी) के दिन राम-जन्म-तिथि मनाने में ऐसे मग्न थे कि उनके मुँह से अमृतमय वाणियाँ फूट रही थीं। वे कहते जा रहे थे—‘सारा विश्व राममय है। मैं ही राम हूँ। मैं ही आदिविष्णु हूँ। वही क्षीरसागर है। वहाँ शयन करने जा रहा हूँ।’ यह कहते हुए सामने स्थित गोदावरी नदी में उतरने लगे। उनके शिष्यों ने मना किया, लेकिन वह कह रहे थे कि रामचन्द्रजी स्वयं उनका हाथ पकड़कर ले जा रहे हैं।

बहुत समय तक कर न चुकाते देख नवाब ने उन्हें जेल में डाल दिया। उन्हें बड़ी यातनाएँ भेलनी पड़ीं। शायद ही किसी भक्त या सन्त को इस प्रकार की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी हों। लेकिन वे अटल रहे। ग्यारह वर्ष तक यह यातनाएँ भेलकर भी रामचन्द्रजी को भूले नहीं। लेकिन जब कठिनाइयाँ बढ़ गईं, तो हठ के साथ कहा था, ‘मैंने तुम्हारे लिए ये रुपये खर्च किये, तुम नहीं चुकाओगे, तो क्या तुम्हारे नाना चुकायेंगे?’ अन्त में इनकी भक्ति पर मुग्ध हो रामचन्द्र ने स्वयं रुपये चुकाये और रामदास को दर्शन दिये। नवाब ने भी रामदास की महिमा की प्रशंसा की, उनका सम्मान भी किया। भद्राचल-तीर्थ को वे कलियुग का वैकुण्ठ मानते थे।

रामदास की भक्ति निष्काम थी। उन्होंने अपने-आप को भगवान् की सेवा में लगाया। निष्काम रूप से साधना की। जब इन्हें श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन हुए, उसके उपरान्त अपने शिष्यों में इन्होंने भगवत्-भक्ति का प्रचार किया है। परिवार के साथ रहते हुए भी इस महात्मा ने साधना की। इन्होंने अनेक गीत और पद रचे हैं। इनका ‘दाशरथि-शतक’ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस शतक के प्रत्येक पद का मुकुट ‘दाशरथि करुणापयोनिधि’ होता है।

श्रीत्यागराज—कर्णाटक-सङ्गीत के महान् आचार्य श्रीत्यागराज के पूर्वज आन्ध्र देश के थे। लेकिन वे बाद में तमिलनाडु में जाकर बस गये। फिर भी उनकी मातृभाषा तेलुगु थी। बचपन से ही ये श्रीरामचन्द्र की उपासना में लगे रहे। घर में ही तेलुगु और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया और तंजाउर राजदरबार के प्रसिद्ध सङ्गीताचार्य श्रीशोष्ठिवेङ्कटरमणय्या के यहाँ सङ्गीत की शिक्षा पाई। इन्होंने संगीत की महती साधना की, उसमें अनेक राग-रागिनियों को जन्म दिया और उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। इनके गीत कर्णाटक-सङ्गीत के प्राण हैं। साधु-सन्तों की भाँति ये मधुकरी-वृत्ति द्वारा पेट भरा करते थे। इन्होंने सैकड़ों पद बनाये। इनके अलावा 'नौका-चरित्र' और 'भक्त-विजयम्' नामक और दो ग्रन्थ रचे हैं। कुछ लोग भक्त-विजय को प्रह्लाद-विजय भी मानते हैं। ये ग्रन्थ त्यागराज की भक्ति के सुन्दर परिचायक हैं।

त्यागराज ने क्रमशः परिवार की चिन्ता त्याग दी और ईश्वर-भजन में लगे रहे। इनके भाइयों ने अनेक कष्ट दिये। तंजाउर के राजा ने त्यागराज को अपने दरबार में सम्मानपूर्ण स्थान देना चाहा। किन्तु त्यागय्या ने स्पष्ट रूप से इनकार किया। वे जीवन-भर कठिनाइयाँ भेलते रहे। तम्बूरे के तारों को भङ्कृत करते तथा भगवान् का यशोगान करते हुए अपना समय बिताते थे। आप दुनियाँ से बिलकुल निर्लिप्त थे।

ये एक योगी द्वारा दीक्षित हुये। आपने राममीटि लिखा। बताया जाता है कि आपको श्रीरामचन्द्रजी ने दर्शन भी दिये थे। इसके बाद प्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन के लिए निकले। मद्रास, काञ्चीवरम् के मन्दिरों में जो अलौकिक घटनाएँ घटीं, उन पर सहसा हम विश्वास नहीं कर पाते, लेकिन भगवान् सदा भक्तों का खयाल रखते हैं, ऐसा पूर्ण विश्वास त्यागराज को था। वे अपने अन्तिम समय तक एक पहुँचे हुए महात्मा हो गये थे। तीर्थाटन द्वारा उनकी साधना और पक्की हो गई। त्यागराज के अनेक शिष्य थे। उनका विश्वास था कि

परमात्मा को प्राप्त करने के लिए शुद्धाचरण और भगवद्भक्ति की नितान्त आवश्यकता है। एकाग्रता, निःस्वार्थता और अरि-षड्वर्गों का दमन वे आवश्यक मानते थे। इसके लिए वे व्यक्तिगत साधना पर जोर देते थे। उपदेश देने-मात्र से कोई साधु-सन्त नहीं बन जाता है। वह अपने आचरण और साधना से ही बनता है। परन्तु त्यागराज ने रूढ़िवादों का खण्डन नहीं किया। उनका विश्वास था, जो व्यक्ति ईश्वर की जिस रूप में उपासना करेगा, उसे वह उसी रूप में प्राप्त होगा। ये सगुणोपासक थे। फिर भी निगुण-ब्रह्म पर इनका अगाध विश्वास था। नादब्रह्म के उपासक भी ये रहे हैं। ये महान् वेदान्ती थे और सङ्गीत को आध्यात्मिक विद्या मानते थे। इनके अन्तिम समय में भी असंख्य शिष्य और अनेक भक्त सदा इन्हें घेरे रहते थे। दूर-दूर से धनी, साधु, संन्यासी, भक्त, पण्डित आदि भुण्ड-के-भुण्ड लोग इनके दर्शन के लिए आते थे। इनके कीर्तन पुराणों और इतिहासों के सार होने के कारण 'त्यागराज के उपनिषद्' नाम से व्यवहृत होते थे।

तीर्थाटन के समय अनेक अद्भुत कार्य करके राम-नाम-सङ्कीर्तन का माहात्म्य समझाया और प्रचार भी किया। दक्षिण के प्रायः सभी तीर्थों में गये और उन सब स्थानों में इनके अनेक शिष्य हो गये। इन्होंने क्षेत्रग्या की भाँति जिस भगवान् पर कीर्तन बनाकर गाये हैं, उनमें तिरुपति-वेङ्कटेश्वर, काञ्चि, तिरुच्चि आदि मुख्य हैं। इन्होंने भी अपने शिष्यों को उपदेश दिये थे। उनका मुख्य सारांश यह है—अहङ्कार का दमन करो। शान्त स्वभाव को अपनाओ, वर्ना सुख-प्राप्ति नहीं होगी। अच्छे महात्माओं की सङ्गति से ही ज्ञानोदय हो सकता है। पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए ही दुनियादारी बातों से विरक्ति पाओ। हिंसापूर्ण यज्ञ-दानादि से मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। दम्भ, एवं आडम्बरपूर्ण जप, तप, स्नान आदि अनुष्ठानों की अपेक्षा निष्काम भक्ति ही मुक्तिदायक है। प्राणियों पर दया, अपनी इन्द्रियों का निग्रह, वैराग्य-भाव, अचञ्चला भक्ति, विनम्रता आदि गुणों पर भी जोर दिया है।

ये सभी तत्त्व एक सन्त में हम पाते हैं। सगुणोपासक होते हुए भी इनके उपदेश निगुणोपासना-प्रधान हैं। इसके अलावा त्यागराज अपने

आचरण और उपदेश, सभी दृष्टियों से सन्त थे। साधनामय जीवन व्यतीत कर अपने शिष्यों और भक्तों के बीच इन्होंने समाधि प्राप्त की। यहाँ हम उनका एक पद दे रहे हैं, जिसे राजा के दरबार में बुलाने पर त्यागराज ने गाया था।

कीर्तन—निधि चला सुखमा ? रामुनि
सन्निधि सेव सुखमा ? निजमुग बल्कु मनसा ।
दधि नवनीत क्षीरमुलु रुचियो ।
दशरथि ध्यान भजन सुधारसमु रुचियो ?
दशमनु गङ्गास्नानमु सुखमा ?
ममता बंधनयुत नरस्तुति सुखमा ?
कर्म दुर्विषय कूपस्नानमु सुखमा ?
सुमति त्यागराजगुतुनि कीर्तन सुखमा ?

‘हे मन ! सच-सच बता। इन भौतिक सुखों की उपासना में सच्चा आनन्द है या रामचन्द्रजी के सान्निध्य की सेवा में ? दही, नवनीत और दूध का स्वाद अधिक रुचिकर है या दाशरथि (श्रीरामचन्द्र) के ध्यान-भजन का सुधारस स्वादिष्ट है ? वासनाओं का दमन करनेवाला पवित्र गङ्गा-स्नान अधिक लाभदायक है या वासनाओं से पूर्ण कूपस्नान ? ममता, माया आदि से मुक्त मानव की स्तुति आनन्ददायक है या श्रीरामचन्द्रजी के गुण-गान में अधिक सुख है ?’

इसके अलावा आन्ध्र में अनेक सन्त हुए हैं, परन्तु जनता में उनका या तो महत्त्व अधिक नहीं है या उनका प्रचार नहीं हुआ। भक्त-पोतत्रा को कुछ लोग सन्त मानते हैं। मेरे खयाल से उन्हें तेलुगु-साहित्य में महात्मा तुलसीदास का स्थान प्राप्त है। कुछ शैव सन्त भी हुए हैं। उनका विशेष महत्त्व नहीं है। वे केवल साधारणधर्म-प्रचारक थे। उन्हें सन्तों की कोटि में लाया नहीं जा सकता है। हम यहाँ स्थानाभाव के कारण हिन्दी और तेलुगु के सन्तों के पदों की तुलना नहीं कर पाये और न अधिक पद ही उदाहरणार्थ दे सके। अतः, विज्ञ पाठकों से नम्र-निवेदन है कि इस लाचारी को देखते हुए क्षमा करेंगे।

तेलुगु-साहित्य के निर्माता कवित्रयः

तेलुगु-साहित्य का आदि-काव्य 'महाभारत' और आदि-कवि नन्नयभट्ट माने जाते हैं। इनके पूर्व का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। शिला-लेखों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्रियों द्वारा पता चलता है कि नन्नयभट्ट के समय तक तेलुगु-भाषा एक स्वरूप को प्राप्त हुई थी। कुछ आलोचकों का कथन है कि नन्नयभट्ट के पूर्व आन्ध्र-देश में जैन और बौद्ध धर्मों का अच्छा प्रचार हुआ था, और जैन तथा बौद्धाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, पर धार्मिक विद्वेष के कारण वह समस्त साहित्य नष्ट हो चुका है। अबतक उपलब्ध साहित्य में तेलुगु का महाभारत ही प्रथम ग्रन्थ ठहरता है।

महाभारत की रचना की कहानी बड़ी रोचक है। यह काव्य तीन महाकवियों द्वारा तीन शताब्दियों में समाप्त हुआ। वे तीनों महाकवि 'कवित्रय' के नाम से विख्यात हैं। इस महाभारत का प्रारम्भ ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। उस समय वर्तमान गोदावरी-मण्डल प्रान्त पर चालुक्यवंशी राजराज नरेन्द्र शासन करते थे। वे धर्मपरायण राजा थे। उन्होंने देखा कि जैन तथा बौद्ध धर्म के प्राबल्य ने सनातन धर्म को दबा दिया है और जनता में अधर्म का प्रचार होता जा रहा है। अतः, फिर जनता में हिन्दू-धर्म के प्रति विश्वास की भावना और श्रद्धा पैदा करने के विचार से राजगुरु एवं आस्थान-पण्डित नन्नयभट्ट को बुलाया, उनसे सलाह ली। महाकवि नन्नयभट्ट ने धर्मबोध करानेवाले उत्तम ग्रन्थों की रचना करवाकर

प्रजा में इनका विशेष प्रचार करने की सलाह दी। तब राजा ने महाकवि से निवेदन किया—‘महाकविजी ! वेतों में वर्णित समस्त-विषयों का संग्रह कर व्यास महामुनि ने संस्कृत में महाभारत की रचना की है। आप उसका तेलुगु-अनुवाद करके जन-साधारण का उपकार कीजिए। इसके अलावा वह हमारे पूर्वज चन्द्रवंशी राजाओं की गाथा है। तेलुगु-भाषा में भी इसका प्रचार हो, यही मेरी अभिलाषा है। आप इसमें समर्थ हैं। मेरी अभिलाषा की पूर्ति कीजिए। आप-जैसे महाकवि और पण्डित को अपने आस्थान-कवि (दरबारी कवि) के रूप में पाकर मैं धन्य हूँ। आप महाभारत की रचना कर मुझे समर्पित कर दें, तो मेरा यश सदा के लिए अमर हो जायगा।’

इस पर नन्नयभट्ट ने जवाब दिया था—‘महाराज ! व्यास-महर्षि-कृत महाभारत की महती कल्पना एवं भावनाओं को तेलुगु-भाषा में ध्वनित करने के लिए वैसे समर्थ शब्द भी तो नहीं हैं। तेलुगु-भाषा अपरिपक्व है। व्याकरण के नियमों का अभाव भी खटकता है। जब भाषा के लिए कोई निश्चय स्वरूप ही नहीं है, तब वह प्रामाणिक नहीं कहलायगी। इसके अतिरिक्त आपके पण्डित देशी भाषाओं में रचित काव्यों का आदर नहीं करते। महाभारत-जैसे बृहत् काव्य का अनुवाद करना भी सरल नहीं है, श्रम-साध्य है।’

राजा ने पुनः अनुरोध किया—“आप संस्कृत के महान् पण्डित हैं। संकल्प-मात्र से सब कुछ कर सकते हैं। अव्यवस्थित तेलुगु-भाषा पर अनुशासन करने के लिए एक व्याकरण भी आप लिख सकते हैं। आपके इस महान् प्रयत्न की प्रशंसा आज के पण्डित भले ही न करें, पर भावी युग आपको ‘आदिकवि’ मानकर, आपके पद-चिह्नों पर चलेगा। क्या यह कम महत्वपूर्ण मानते हैं ? आपकी रचना का उद्देश्य जनता का कल्याण हो, इस बात का आप अवश्य

महाराजा के अनुरोध को महाकवि टाल नहीं सके। इन्होंने इस गुस्तर भार को अपने कंधों पर ले लिया। महाकवि ने एक सु-मुहूर्त में संस्कृत-महाभारत का तेलुगु-अनुवाद प्रारम्भ किया। परन्तु आदि-पर्व और सभा-पर्व समाप्त करके अरण्य-पर्व का अनुवाद कर ही रहे थे कि इनका असामयिक निधन हो गया। कुछ विद्वानों का अभि-प्राय है कि इनके आश्रयदाता राजराज नरेन्द्र (विष्णुवर्द्धन) किसी मुद्द में मारे गये, इस कारण महाभारत का अनुवाद स्थगित हो गया। कुछ विचारक महाकवि नन्नयभट्ट के मतिभ्रान्त होने के कारण अनुवाद-कार्य स्थगित मानते हैं।

नन्नयभट्ट ने महाभारत का अनुवाद बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया है। वह छायाानुवाद नहीं, भावानुवाद है। उसमें भी मूलग्रन्थ के कुछ स्थलों को, काव्य में सौन्दर्य लाने के विचार से, संक्षिप्त किया है, तो कहीं रोचकता लाने के लिए प्रसङ्ग को बढ़ाया भी है। सन्दर्भ और औचित्य का खयाल रखकर कथावस्तु का पोषण किया है। काव्य में यत्र-तत्र वर्णित उपाख्यान अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। नलोपाख्यान और शकुन्तला-वृत्तान्त उपस्थित करने में अर्थ गाम्भीर्य की प्रधानता है। और शैली सरस। इनके काव्य की विशेषताएँ वैदिक धर्म की रक्षा और काव्यादर्श का पालन हैं।

महाकवि नन्नयभट्ट की भाषा में संस्कृत-शब्दों की बहुलता है लगभग ७५ फी सदी शब्द संस्कृत के होते थे। फिर भी वे शब्द ऐसे खप गये प्रतीत होते हैं, मानों तेलुगु के ही हों। इसलिए, यह काव्य सर्वसाधारण प्रजा के लिए भी उपयोगी बन पड़ा है।

नन्नयभट्ट ने अपने काव्य में एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है कि उन्हें महाभारत की रचना में नारायणभट्ट नामक महाकवि की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। नारायणभट्ट भी आस्थान-कवि थे और वे संस्कृत, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषाओं के अच्छे ज्ञाता और पण्डित थे। राजराज नरेन्द्र द्वारा उन्हें नन्दमपूडि नामक अभ्यारण भी प्राप्त था। यदि नारायणभट्ट की उचित सहायता प्राप्त

न होती, तो सम्भव है कि महाकवि नन्नयभट्ट को महाभारत की रचना में इतनी सफलता प्राप्त न होती ।

कहा जाता है कि आन्ध्र-शब्द-चिन्तामणि, इन्द्रविजय, और चामुण्डी-विलास आपके अन्य ग्रन्थ हैं । पर इनके प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं । आन्ध्र-शब्द-चिन्तामणि तो संस्कृत में लिखा गया तेलुगु का व्याकरण है । इसी व्याकरण की रचना के कारण ही महाकवि नन्नय को 'वागनुशासक' (भाषा का अनुशासन करनेवाला) नामक उपाधि प्राप्त हुई है । पर कुछ समीक्षक आन्ध्र-शब्द-चिन्तामणि को नन्नय की कृति नहीं मानते हैं । पर, उनका तर्क है कि लाक्षणिक कविता और उत्तम शब्द-योजना के कारण ही नन्नय को उपयुक्त उपाधि उपलब्ध हुई है ।

नन्नयभट्ट का समय कुछ लोग सन् १०२० से १०६३ ई० तक मानते हैं, तो कुछ लोग जन्म-तिथि ११ वीं शताब्दी का प्रथम पाद बताकर मृत्यु सन् १०५५ ई० के करीब मानते हैं ।

नन्नयभट्ट की मृत्यु के उपरान्त डेढ़ सौ वर्ष तक महाभारत की रचना स्थगित रह गई थी । एक दिन नन्नयभट्ट के वंशज एक पण्डित ने उस पाण्डुलिपि को देखा । उस असम्पूर्ण भाग को पूरा करने की इच्छा उनमें पैदा हुई । कई पण्डितों के पास ले जाकर उस पाण्डुलिपि को दिखाया, पर किसी ने शेष का अनुवाद पूरा करने का भार नहीं उठाया । आखिर नेल्लूर-मण्डल के एक पण्डित द्वारा यह जानकर कि राजा मनुमसिद्धि के आस्थान-कवि तिक्कना सोमयाजी यह कार्य करने में समर्थ हैं, उनके पास दौड़े हुए गये । राजदरबार में प्रवेश कर उस पण्डित ने अपने आगमन का समाचार सुनाया । उस समय महाकवि तिक्कना सोमयाजी भी दरबार में थे । राजा मनुमसिद्धि ने उस पण्डित द्वारा सारा समाचार जानकर महाकवि से उस भार को लेने का निवेदन किया । महाकवि तिक्कना ने उस पण्डित द्वारा दो-चार पद सुने । उसकी शैली संस्कृतगर्भित थी । इसलिए, राजा ने आरम्भ से बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना करने की महाकवि को सलाह दी । पर महाकवि ने बताया—'राजन् ! नन्नयभट्ट उभयभाषा-

(संस्कृत और तेलुगु) विशारद और ग्रान्ध-कविता-कोविद हैं। उनकी कविता ग्रान्ध-जगत् के लिए आदर्श बनी रहे, यही मेरी इच्छा है। पर, मैं पहले वन-पर्व के शेषांश को छोड़ विराट-पर्व से शेष पन्द्रह पर्वों तक की रचना करूँगा। उसके समाप्त होने पर वन-पर्व के शेषांश को भी पूर्ण करूँगा।' इस पर राजा बहुत प्रसन्न हुए। तब महाकवि तिकना ने कहा—'इस महाकाव्य की रचना करने के लिए दीक्षा की आवश्यकता है। दीक्षा यज्ञ द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।' महाराज मनुमसिद्धि ने यज्ञ का प्रबन्ध किया। यज्ञ समाप्त कर तिकना सोमयाजी हुए।

इसके बाद भी महाभारत की रचना प्रारम्भ करते न देख महाराज ने तिकना से इसका कारण पूछा। तिकना ने उस समय बताया था—'व्यास-महामुनि आश्रुप में श्लोक बनाते जा रहे थे और गणेशजी लिखते गये। मैं भी उसी प्रकार आश्रुप में कविता करता जाऊँगा, और धारा-प्रवाह के अनुरूप कविता को लिपिबद्ध करने के लिए मुझे एक सहायक की अत्यन्त आवश्यकता है।' राजा ने महाकवि को ऐसे समर्थ व्यक्ति को ढूँढने की सलाह दी और उस सहायक का पूर्ण खर्च उठाने का वचन भी दिया। महाकवि ने गुरुनाथ नामक एक कुम्भकार को चुन लिया, जो अच्छा लिख सकता था और साहित्य में भी उसका अच्छा प्रवेश था। कुछ ही दिनों में गुरुनाथ महाकवि की सेवा में उपस्थित हुआ। महाकवि ने उसका उचित स्वागत कर कहा—'मैं आश्रुप में पद्य सुनाता जाऊँगा, तुम उन्हें लेखनी से ताल-पत्र पर अंकित करते जाओ। बीच में पुनः उसी पद्य को पूछोगे, तो मेरी कविता की धारा रुक जायगी।' गुरुनाथ ने तुरन्त कहा—'यदि बीच में मेरी लेखनी रुक गई, तो मैं उसी समय अपना हाथ कटवा डालूँगा।' गुरुनाथ के इस कठिन शपथ को सुनकर तिकना आश्चर्य-चकित हुए और उन्होंने भी उसी समय प्रतिज्ञा की कि 'यदि मेरी कविता-धारा रुक गई, तो मैं तत्काल ही अपनी जिह्वा काट डालूँगा।'।

प्रतिज्ञा के उपरान्त कृति-समर्पण के सम्बन्ध में विचार हुआ । अन्त में शैव-वैष्णव-वैमनस्य को दूर करने के अभिप्राय से 'किष्णुरूपाय नमश्शिवाय' ऐसी स्तुति कर विराट-पर्व का प्रारम्भ किया । महाकवि के मुँह से कविता की धारा बहने लगी । विराट-उद्योग, भीष्म, द्रोण और कर्ण-पर्व समाप्त हुए । शल्य-पर्व की रचना हो रही थी । युद्ध में शल्य भी गिर गया है । संजय धृतराष्ट्र को आगे की कथा सुना रहे हैं । महाकवि ने वहाँ का वर्णन किया—

‘बलपलनि मूकलो गाल
निवलुक् गुरंमु डिगि नी कोडुकु गदा
कलित भुजुषडै योक्कडु
दोलगी चनिये.....।

पाण्डवों की सेना के बीच आपके पुत्र साहस के साथ खड़े नहीं हो सके । अतः डर के मारे घोड़े पर से उतरे और कन्धे पर गदा लेकर जान बचाने की फिक्र में दौड़ पड़े.....।

यहाँ तक का वर्णन महाकवि ने किया । इसकी पूर्ति करने के लिए उन्हें कुछ नहीं सूझा । इसलिए अपनी लाचारी प्रकट करते हुए महाकवि ने लेखक से कहा—‘एमि चेप्पुदुनु गुरुनाथा ।’ (हे गुरुनाथ ! क्या कहूँ ?) यह अंश महाकवि ने अपने लेखक को सम्बोधित कर अपनी विवशता में बताया है, पर लेखक गुरुनाथ ने इस अंश को भी पद्य-भाग मानकर लिख दिया । इतने में महाकवि ने अपनी प्रतिज्ञा भंग हो जाने की कल्पना कर गुरुनाथ से कहा—‘चाकू लाओ !’ गुरुनाथ ने चकित होकर पूछा—‘आखिर चाकू किस लिए ?’ तिकना ने कहा—‘धारा-प्रवाह रुक गया है न ? पद्य अधूरा रह गया है, इसलिए ।’

गुरुनाथ ने प्रत्युत्तर दिया—‘पद्य तो सम्पूर्ण हो गया है । अन्तिम प्रंक्ति’...दोलगि चनिये एमि चेप्पुदुनु गुरुनाथा ।’ (‘दौड़ पड़े, हे गुरुनाथ ! क्या कहूँ ?) ठीक ही तो है । मैंने सोचा—‘गुरुनाथ (गुरुनाथ) यानी धृतराष्ट्र !’ (कुरुवंश के राजा !) कहकर संजय सम्बोधित कर रहे हैं ।

महाकवि की प्रतिज्ञा की रक्षा हुई। जिसे उन्होंने मजाक में कहा, वही सन्दर्भ के अनुसार ठीक बैठ गया। इसलिए, यह सूक्ति सम्भवतः प्रचलित हो गई कि महाकवि के मुँह से जो कुछ भी निकलता है, वह कविता ही है। महाभारत की रचना को आगे बढ़ाने का अवसर पाकर तिकना प्रसन्न हो गये और अपने लिपिकार से कहा—‘हे गुरुनाथ ! तुम गुरुनाथ हो ? कुम्भकार गुरुनाथ नहीं। मेरी असामयिक बात को मेरे स्फुरण में न आनेवाला अर्थ लगाकर प्रतिज्ञा की रक्षा की। तुम धन्य हो।’

महाकवि तिकना ने कुछ ही समय में शेष पन्द्रह पर्व समाप्त किये। राजा की आज्ञा पाकर ‘वन-पर्व’ की रचना करने का उपक्रम कर ही रहे थे कि मुद्र की दुन्दुभी बजने लगी। राजा के पड़ोसी राज्य ने उन पर हमला किया था। उस मुद्र में तिकना के आश्रयदाता पकड़े गये। महाभारत की रचना स्थगित रह गई। महाभारत के अट्टारह पर्वों में आदि-पर्व और सभा-पर्वों की रचना नम्रया ने समाप्त किया। वन पर्व में आधा रह गया था। शेष पर्व तिकना ने पूरा किये। अब केवल वन-पर्व का आधा अंश-मात्र रह गया था। बीच में विघ्न उपस्थित हुआ। ऐसी कठिन परिस्थिति में अपने आश्रयदाता की रक्षा कर महाभारत को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय तिकना ने किया, इतने में अचानक उनके मस्तिष्क में एक उपाय सूझ पड़ा। तुरन्त वे काकतीय-साम्राज्य के चक्रवर्ती राजा गणपति की सेवा में उपस्थित हुए। राजा गणपतिदेव बड़े पराक्रमी और साहित्यप्रेमी थे। महाकवि तिकना के द्वारा महाभारत सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उन्हें उचित पुरस्कारों से सम्मानित किया और महाकवि के आगमन का समाचार सुनकर अपनी सेनाएँ भेजकर उनके आश्रयदाता को विमुक्त कराया। पर, महाभारत का शेषांश पूरा नहीं हुआ।

महाकवि तिकना का जीवन-काल सन् १२२०-१३०० ई० सना जाता है। तिकना केवल कवि नहीं थे। अनेक कवियों के पोषक भी रहे थे। कृति-कर्त्ता के साथ वे कृति-भर्त्ता भी थे। राजनीति में बड़े

निपुण थे। चोलवंश के राजा मनुमसिद्धि के दरबार में ये कवि थे और महामन्त्री भी। इनकी सलाह पर ही राज-काज होते थे। संस्कृत और तेलुगु के तो बड़े विद्वान् थे ही, वेद और पुराणों के भी अच्छे ज्ञाता थे।

तिक्कना ने भी महाभारत का स्वतन्त्र अनुवाद किया है। वेदान्त-सम्बन्धी जटिल विषयों को संक्षिप्त कर रोचक प्रसंगों को विस्तृत बना दिया है। पात्र-चित्रण, रस-पोषण और अलंकार-योजना में तिक्कना को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। कृष्ण भगवान् का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना और वहाँ पर दूत के कर्म का विधान महाकवि की चतुर राजनीतिज्ञता का परिचय देते हैं। कीचक-वध और अभिमन्यु-वध अभिनय-योग्य बन पड़े हैं।

तिक्कना ने अपने समय में जो शैव और वैष्णवों के बीच झगड़े होते थे और उनमें विद्वेष की भावना प्रबलतर हो रही थी, उसे दूर करने के लिए एक समन्वयात्मक मार्ग अपना लिया। शिव और विष्णु में वे अन्तर नहीं मानते थे। इसलिए, उन्होंने अपने महाभारत को हरिहरनाथ को अर्पित किया है।

महाभारत में वीर और रौद्र-रसों का अच्छा निरूपण हुआ है, साथ ही नवों रसों का अपने स्थान पर अच्छा चित्रण है। पर, इनका शृङ्गार-रस अत्यन्त उद्दाम है। काव्य में कमनीयता लानेवाले समस्त गुण महाकवि में विद्यमान हैं। महाकवि की शैली अत्यन्त मनोहर है। शुद्ध तेलुगु-भाषा की लोकोक्तियाँ और मुहावरे काव्य की शोभा को बढ़ा रहे हैं। इनकी भाषा में संस्कृत शब्द कम हैं और तेलुगु के शब्द अधिक। महाकवि के समय तक तेलुगु-भाषा का अच्छा विकास हो चला था। गम्भीर भावनाओं की अभिव्यक्तीकरण के लिए आसानी से शब्द तेलुगु में उपलब्ध होने लगे थे। इनके वाक्य छोटे होते हैं, पर भाव अधिक व्यापक। अर्थगाम्भीय की दृष्टि से तिक्कना की कविता बहुत प्रसिद्ध है।

तेलुगु-महाभारत के अधिक विख्यात होने का कारण यह है कि इसमें लोक-संग्रह की भावना अधिक है। व्यवहारकुशलता के कारण

भी कवि को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। तेलुगु जाति की समस्त विशेषताओं का परिचय देते हुए उनकी चित्तवृत्तियों का स्पर्श करनेवाली सामग्री का उसमें समावेश किया है। इसलिए, आन्ध्र में यह कहावत प्रचलित है कि 'तिण्टे गारेलु तिनाजी, विण्टे भारत मुविनाली'। (अर्थात्, खानाही है, तो बड़े खायें; सुनना है, तो महा-भारत सुनें।)। इसका पूरा श्रेय कवित्रय को प्राप्त है।

महाकवि तिक्कना ने निर्वचनोत्तर रामायण भी लिखी है। तेलुगु-महाभारत चम्पू-काव्य है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। तेलुगु के अधिकांश पुराण और प्रबन्ध-काव्य चम्पू ही हैं। तेलुगु में गद्य को वचन कहते हैं। जो काव्य गद्य से (वचन से) मुक्त है, उसे निर्वचन कहते हैं। तिक्कना ने उत्तर-रामायण-निर्वचन बनाया, इसलिए वह निर्वचनोत्तर कहलाया।

यह काव्य वाल्मीकि के उत्तर-काण्ड का अनुवाद है। अनुवाद में स्वतन्त्रता का खयाल रखा गया है। यह काव्य महाकवि ने अपने आश्रयदाता को समर्पित किया है। आपकी अन्य रचनाओं में कविसार्वभौम छन्द, विजयसेन और कृष्णशतक मानी जाती हैं। निर्वचनोत्तर रामायण में तिक्कना ने सीताजी का जो चरित्र उपस्थित किया है, वैसा कोई भी कवि नहीं कर पाये हैं। उस महाकवि को अनेक उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं। पर उनमें कवि ब्रह्म और उभय कविमित्र अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। भाषा, शैली, जातीयता, रीति (लक्षण) इत्यादि में भावी पीढ़ी के लिए नया आदर्श उपस्थित कर तिक्कना ने तेलुगु-साहित्य और तेलुगु-प्रजा का बड़ा उपकार किया है। इनकी रचनाएँ विश्व-साहित्य से टकर ले सकती हैं।

महाभारत के वनपर्व का शेषांश वैसे ही रह गया था। फिर, लगभग एक सौ वर्ष बाद एर्शप्रगडा ने शेष भाग की पूर्ति की। एर्शप्रगडा ने नृसिंहपुराण, हरिवंश इत्यादि अनेक प्रबन्ध-काव्यों की रचना करके 'प्रबन्ध-परमेश्वर' नामक उपाधि प्राप्त की। प्रबन्ध-काव्य की रचना में उनको अद्भुत वैलक्षण्य प्राप्त था। ये कोडविडु के

राजा वेमारेड्डी (वेम-भूति) के दरबार में रहते थे। इन्होंने रामायण भी लिखी है। हरिवंश और रामायण इन दोनों काव्यों को अपने आश्रयदाता वेमारेड्डी को समर्पित किया है। नृसिंहपुराण की रचना अपने पितामह की आज्ञा से की और अहोबिल में स्थित नृसिंहस्वामी को उसे समर्पित किया। यह काव्य उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

ये भी बड़े भक्त थे। शिव और विष्णु में भेद नहीं मानते थे। यह भावना उनके प्रत्येक काव्य में प्रकट होती है। चौदहवीं शताब्दी में रेड्डी-राजाओं ने कवियों को अच्छा आश्रय दिया और काव्य-रचना के लिए बड़ा प्रोत्साहन भी दिया। उनके दरबार में संस्कृत और तेलुगु के कवि रहा करते थे। रेड्डी-राजा भी स्वयं कवि और कला-प्रेमी थे। एर्शप्रगडा को अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

एर्शप्रगडा को महाभारत के अरण्य-पर्व (वन-पर्व) के शेषांश को पूरा करने में अपनी पूरी प्रतिभा लगानी पड़ी। कारण यह है कि नन्नयभट्ट और महाकवि तिव्कना की रचनाओं के बीच के भाग को इस निपुणता के साथ जोड़ना था कि वह भद्दा न लगे और ऐसे महाकवियों की रचनाओं के समक्ष फीका मालूम न हो। उसमें भी नन्नयभट्ट की भाषा संस्कृतगर्भित थी। उसमें पचहत्तर फी-सदी शब्द संस्कृत के थे, जबकि तिव्कना की भाषा में मात्र पच्चीस फी-सदी। इसलिए, वनपर्व के शेषांश के प्रारम्भ में एर्शप्रगडा ने संस्कृत-गर्भित शैली का प्रयोग कर उसके साथ कड़ी ऐसी मिलाई कि पाठक यह पहचान नहीं पाता, कि नन्नयभट्ट की रचना कौन-सी है और एर्शप्रगडा की कविता कहाँ से प्रारम्भ होती है। क्रमशः वे संस्कृत-शब्दों से भरी शैली को कम करते गये। वन-पर्व के अन्त तक ऐसी शैली बना ली कि वह तिव्कना की ही रचना प्रतीत होती है। दो महाकाव्यों की शैली का अनुकरण करना और सफलतापूर्वक उसमें व्यक्तिता करना साधारण बात नहीं है। फिर भी एर्शप्रगडा ने

उस शेषांश में अपना नाम नहीं दिया और उस भाग को भी राजराज नरेन्द्र को ही अर्पित किया ।

इस प्रकार, तेलुगु-महाभारत तीन शताब्दियों में तीन महाकवियों द्वारा समाप्त हुआ । अनुवाद होते हुए भी उसमें कहीं अनुवाद का आभास तक नहीं है । स्वतन्त्र अनुवाद है । मूल महाभारत में और इसमें काफी परिवर्तन है । आन्ध्र में महाभारत का विशेष प्रचार है । आज भी लोग बड़े चाव से उसका पारायण करते हैं । उसके पठन-पाठन का विशेष प्रबन्ध है । इन तीनों महाकवियों को तेलुगु-जगत् 'कवित्रय' नाम से जानता और मानता है । महाभारत को तेलुगु-साहित्य का शिरोमणि कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।



आन्ध्र-कविसार्वभौम श्रीनाथ

तेलुगु-साहित्य के इतिहास में विजयनगर-साम्राज्य का काल स्वर्ण-युग माना जाता है। उसके उपरान्त रेड्डी-राजाओं का युग अपना अच्छा-सा स्थान रखता है। रेड्डी-राजाओं ने स्वयं काव्य-रचना ही नहीं की, अपितु अनेक कवियों को भी अपने दरबारों में आश्रय देकर उनके द्वारा ग्रन्थ रचवाये हैं। यों तो, असंख्य कवि इन राजाओं के आस्थानों में थे; परन्तु उन सबमें श्रीनाथ महाकवि सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे।

जन्म स्थान—अनेक प्राचीन कवियों की भाँति इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। लेकिन, अधिकांश आलोचकों के निर्णय के अनुसार श्रीनाथ महाकवि का जन्म आन्ध्र-देश के दक्षिण भाग में स्थित पाकनाटि सीमा में हुआ था। यह प्रान्त वर्तमान समय के नेल्लूर जिले के ओंगोल के अन्तर्गत है। स्वयं कवि ने भी अपने जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अपने 'भीमेश्वरपुराण' नामक काव्य में संकेत किया है। उसके अनुसार 'कालपट्टण' इनका जन्मस्थान ठहरता है। कुछ आलोचकों के मतानुसार यह कालपट्टण कृष्णा जिले में स्थित बताया जाता है।

श्रीनाथ के कुछ पद्यों में वर्णित विषय को लेकर विद्वानों ने सन्देह किया कि ये कर्णाटक-निवासी तो नहीं हैं, किन्तु यह बिलकुल निराधार विषय है। महाकवि कर्णाटक-राजा के दर्शन के लिए गये, तो कर्णाटक-भूमि में पाँव धरते ही उन्होंने प्रार्थना की—'हे कर्णाटक-राज्यलक्ष्मी ! क्या मुझपर आपकी कृपा नहीं है ?' इतने से ही कवि के आन्ध्रवासी

होने में सन्देह प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। भक्तिवश लोग किसी नये प्रदेश में प्रवेश करते समय प्रार्थना करते हैं।

महाकवि के जन्मकाल के सम्बन्ध में भी यही बात है। श्रीजयन्ति रामय्या पन्तुलुजी इनका जन्म सन् १३६० ई० मानते हैं, तो श्रीवीरे-शालिंगम् १३६५ ई० और श्रीचिलुकूरि वीरभद्ररावजी १४२२ ई०। कुछ लोग तो सन् १३८० ई० भी मानते हैं। परन्तु, इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में समुचित निर्णय करने के लिए हमें कोई भी प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं होता। हाँ, कवि ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में 'काशीखण्ड' में उल्लेख किया है, जिससे हम यह निर्णय कर सकते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाएँ किस अवस्था में की हैं।

चित्रारि पोन्नारि चिरुत्तुकुटि नाडु
रचियिचिति मरुत्तराट्चरित्र
नूतूगु मीसाल नूत्तन यौवनमुन
शालिवाहन सप्तशति नुडिविति
संतरिचिति निडु जव्वनंबुन यंदु
हर्षनैषध काव्य मांघ्रभास
प्रौढ निर्भर वयःपरिपाकमुन गोनि
याडिति भीम नायकुनि महिम
प्रायमितकु मिगुल ग्रैवाल कुण्ड
गाशिका खण्डमनु महाग्रन्थमेनु
तेनुगु जेसेद गर्नाट देश कटक
पद्मवन हेलि श्रीनाथ भट्ट कविनि

भावार्थ—बचपन में मैंने 'मरुत्तराट्चरित्र' की और किशोरावस्था में शालिवाहन-सप्तशती की रचना की। यौवन में 'नैषध-काव्य' का आन्धीकरण (आन्ध्र-भाषा में अनुवाद), अर्धेड़ उम्र में 'भीमपुराण' और बुढ़ापे के पूर्व ही 'काशीखण्ड' नामक महाकाव्य का अनुवाद किया। मेरा नाम श्रीनाथ भट्टकवि है।

श्रीनाथ महाकवि द्वारा कथित इस पद्य के द्वारा उनके काल की वयःपरिमिति का इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है—

बचपन यानी १५ वर्ष की अवस्था में मरुत्तराट्चरित्र;

किशोरावस्था १७—२० के लगभग शालिवाहनसप्तशती;

पूर्ण यौवन २५—३५ शृङ्गारनैषध;

अधेड़ उम्र ४०—४५ भीमपुराण; और

बुढ़ापे के करीब ५०—५५ काशीखण्ड ।

इस पद्य में कवि ने अपने द्वारा रचित 'पण्डिताराध्यचरित्र' का उल्लेख नहीं किया है । वह काव्य सम्भवतः शृङ्गारनैषध के अनुवाद के पूर्व यानी २०—२५ वर्ष की अवस्था के मध्य में रचा होगा । स्वर्गीय श्रीकन्दुकूरिवीरेशलिगम् पन्तुलुजी ने, जो आधुनिक तेलुगु-गद्य-साहित्य के युगनिर्माता माने जाते हैं, बताया है कि श्रीनाथ ने अपनी ६० वर्ष की आयु के बाद भीमपुराण रचा और ७० वर्ष की उम्र के उपरान्त काशीखण्ड का निर्माण किया ।

इस महाकवि के मृत्यु-काल के सम्बन्ध में भी वाद-विवाद है । सन् १४७० ई० को अधिकांश लोग मानते हैं ।

श्रीनाथ महाकवि को शिक्षा-दीक्षा अपने पितामह पद्मनाभामात्य से ही प्राप्त हुई । वे ही इनके गुरु थे । वे संस्कृत, प्राकृत और तेलुगु के बहुत बड़े पण्डित थे । महाकवि श्रीनाथ ने अनेक स्थलों पर अपने पितामह के पाण्डित्य की अच्छी प्रशंसा की है ।

महाकवि श्रीनाथ ने अपने समय को विद्या-गोष्ठी, काव्य-रचना इत्यादि में बिताई । ये अनेक वर्षों तक कोण्डवीडु तथा राजमहेन्द्री के रेड्डी-राजाओं के दरबारों में रहे थे । महाकवि वहाँ न केवल आस्थान-कवि थे, अपितु शिक्षाविभाग के अधिकारी भी थे । ये अपने आश्रयदाताओं द्वारा स्वर्णाभिषिक्त होकर धन्य हुए थे । इन्होंने अपने जीवन-काल में धन की बहुत बड़ी राशि एकत्र की और उसे भोग तथा दान में खर्च भी कर दिया । अतिथि-पूजा, ब्राह्मण-धर्म आदि के निर्वाह द्वारा प्रथम पुरुषार्थ को और शिवभक्ति के द्वारा, ईश्वर की

उपासन करते हुए, चतुर्थ पुरुषार्थ को भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार, चतुर्विध पुरुषार्थों को प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बनाया। किन्तु, अपने अवसान-काल में महाकवि को दारिद्र्य से पीड़ित होकर अनेक कठिनाइयाँ भोगनी पड़ीं। इस तरह हिन्दी-साहित्य के कवि रहीम का स्मरण हमें हो जाता है। अन्य विषयों में हम इनकी तुलना बिहारीलाल और केशवदास के साथ कर सकते हैं। महाकवि बड़े रसिक थे, साथ ही भक्त भी। इनकी शैली प्रौढ़ होने के कारण ये साधारण लोगों के लिए दुर्वोध रहे हैं।

रेड्डी-राजाओं के दरबार में—महाकवि के प्रथम आश्रयदाता कोण्डवीडु राज्य के रेड्डी-राजा थे। इस वंश में पेद्दकोमटि वेमारेड्डी अच्छे रसज्ञ और पण्डित थे। इनके मन्त्रियों को श्रीनाथ ने अपनी कृतियाँ समर्पित कर दरबार में स्थान प्राप्त कर लिया। तदुपरान्त प्रधान शिक्षाधिकारी बनकर श्रीनाथ ने २० वर्षों तक कार्य किया। इनके आश्रयदाता वेमारेड्डी ने 'अमरुक' नामक संस्कृत-काव्य की व्याख्या लिखी है।^१ चार-पाँच कवियों ने इस काव्य का तेलुगु में अनुवाद किया है। इस सम्बन्ध में यह दन्तकथा प्रचलित है कि श्रीनाथ ने ही 'अमरुक-काव्य' की व्याख्या पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के नाम से की है।

राजा वेमारेड्डी के दरबार में संस्कृत और तेलुगु के अनेक कवि थे। उनमें वामनभट्ट ने 'पार्वतीपरिणय' (प्रबन्ध-काव्य), वेमभूपाल-चरित्र (गद्यकाव्य) और नलाम्बुदय नामक संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की है। 'वेमभूपालचरित्र' में प्रारम्भ से वेमारेड्डी तक के समस्त रेड्डी-राजाओं के चरित्र वर्णित हैं। वेमभूपाल (वेमारेड्डी) ने

१—'अमरुक' शृङ्गाररस प्रधान है। इसकी अनेक व्याख्याएँ हैं। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ पण्डितों का कथन है कि जब श्रीशङ्कराचार्यजी ने मण्डनमिश्र की पत्नी के साथ कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिए परकाय-प्रवेश-विद्या द्वारा अमरुक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया, तब इस ग्रन्थ की रचना की। कुछ विद्वानों के कथनानुसार अमरुक कवि ने ही इसकी रचना की।

‘साहित्य-चिन्तामणि’ नामक एक आलङ्कारिक ग्रन्थ भी लिखा है। इनके अलावा उन्होंने कई ग्रन्थ और टीकाएँ रची हैं। अन्नपाडु के शिलालेख में इस राजा की उपाधि ‘सर्वज्ञचक्रवर्ती’ उल्लिखित है। महाकवि श्रीनाथ और वेमारेड्डी की कृतियों में कहीं-कहीं समानता दिखाई देती है। इसलिए पण्डितों का कहना है कि इन दोनों ने रचना-निर्माण में एक दूसरे की सहायता की होगी।

इतिहास बताता है कि वेमारेड्डी सन् १४०० ई० में कोण्डवीडु राज्य के सिंहासन पर बैठे और २० वर्षों तक राज्य किया। इसी समय श्रीनाथ भी उनके दरबार में थे, परन्तु उन्हें अपनी कोई भी कृति समर्पित नहीं की।

वेमारेड्डी की मृत्यु के उपरान्त श्रीनाथ राजमहेन्द्रवर-स्थित दुव्वूरिरेड्डी-राजाओं के दरबार में गये और उस वंश के वीरभद्ररेड्डी को ‘काशीखण्ड’ नामक अपना काव्य समर्पित किया। कोण्डवीडु और दुव्वूरिरेड्डी-राजाओं में सभी दृष्टियों से आदान-प्रदान होता था। इन रेड्डी-राजाओं के वंशों के साथ श्रीनाथ का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। इसलिए, यदि हमें श्रीनाथ का पूर्ण परिचय प्राप्त करना है, तो इन रेड्डी-राजाओं के इतिहास को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, परन्तु हम यहाँ विस्तार के भय से उनका वंशवृक्ष नहीं दे रहे हैं।

शिक्षा-विभाग के अधिकारी के रूप में—शिलालेखों से पता चलता है कि श्रीनाथ महाकवि ने पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के आस्थान में २० वर्षों तक शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष के पद पर काम किया। उस समय उनका कार्य यों था—(१) राजाओं द्वारा किये जानेवाले दानों का दान-पत्र लिखना, (२) अवकाश के समय राजसभा में विद्या-गोष्ठियाँ चलाना, (३) राजसभा में आनेवाले पण्डितों के पाण्डित्य की जाँच करके उन्हें उचित पुरस्कार द्वारा सम्मानित करना, (४) राजा के पठनीय ग्रन्थों के कठिन स्थलों का अर्थ बताना, (५) राजा की ग्रन्थ-रचना का पर्यवेक्षण और सहायता पहुँचाना, (६) समस्या-पूर्ति में

गुण-दोषों का विवेचन करना और कभी-कभी समस्याओं की पूर्ति करना, (७) प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार कराना और (८) राज-पण्डितों के लिए आवश्यक पुस्तकें मँगाना तथा पुस्तकालय का पर्यवेक्षण करना ।

उपयुक्त कार्यों के साथ-साथ इन बीस वर्षों की अवधि में श्रीनाथ ने श्रीहर्ष-कृत नैषध का तेलुगु में शृङ्गार-नैषध नाम से अनुवाद किया । यह अनुवाद न होकर स्वतन्त्र प्रबन्ध-जैसा है और तेलुगु के पञ्च-महाकाव्यों में एक माना जाता है ।

राजा पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के समय के १३ शिलालेख अभी तक प्राप्त हुए हैं । उनमें अधिकांश शिलालेख श्रीनाथ कविसार्वभौम-कृत हैं । समय-समय पर रचित ये लेख कलवपामुल, कसुकुर्, पोन्नुपल्लि, पिनपाडु, फरंगिपुर, आलपाडु, रुद्रवरम्, नन्दमूरु, पोद्लपाडु, मूलंगूरम्म, कुरुनूतल, और पुल्लिरवोडु शिलालेख कहलाते हैं । इनमें अधिकांश ताम्र-शासन हैं । तेलुगु में ये शिलालेख अथवा ताम्रलेख शासन कहलाते हैं । इनमें कुछ शासन (शिलालेख) पद्य में और कुछ गद्य में हैं ।

पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के निधन के उपरान्त उनके पुत्र राय वेमारेड्डी गद्दी पर बैठे । श्रीनाथ इनके भी दरबार में रहे । सन् १४२४ ई० के लगभग इन्हें कोण्डवीडु छोड़ना पड़ा ।

महाकवि कई राजाओं के यहाँ रहे, परन्तु केवल राजाओं को ही नहीं, बल्कि अनेक मन्त्रियों, धनियों एवं मित्रों को भी अपनी कृतियाँ समर्पित की । इनकी कृतियों के कृतिभर्ता कई हैं । महाकवि ने 'पण्डिताराध्यचरित्र' मामिडि प्रेगडामात्य को, 'शृङ्गारनैषध' इनके भाई सिगनामात्य को, 'हरविलास' अपने बाल्य-मित्र अवसितिप्पयसेट्टि नामक एक वैश्य को, 'काशीखण्ड' देसटि वीरभद्रा रेड्डी को, 'भीमेश्वर-पुराण' वेण्डपूडि अन्नमन्त्री (ये वीरभद्रा रेड्डी के मन्त्री थे) को, 'धनञ्जयविजय' दन्तुलूरि गन्नभूपाल को तथा 'शिवरात्रि-माहात्म्य' शान्तय्या को समर्पित किया है ।

महाकवि श्रीनाथ अपने जीवन-काल में अनेक राजाओं के दरबारों में गये और वहाँ अच्छा सम्मान प्राप्त किया तथा उपाधियाँ भी पाईं । इसका उल्लेख उन्होंने निम्नलिखित पद्य में किया है—

दीनारटंकाल दीर्थ माडिंचिति
दक्षिणाधीशु मुत्त्याल शाल
बलुकुतोडै आन्ध्रभाषा महाकाव्य
नैषध ग्रन्थ संदर्भमुनक
वगुल गोट्टिचितुड्डट विवाद प्रौढि
गौड डिडिमभट्ट कंचुढक
चन्द्रशेखर क्रियाशक्ति देवरायल वद्
बादुकोलिपति सार्वभौम बिरुद
मेदुल मेप्पिचेदो नन्नु निकमीद
राव सिग महीपालु धीविशालु
निडु कोलुदुन नेलकोनि मुंडि नीवु
सकल सद्गुण निकुरंब शारदांब !

भावार्थ—हे भारती ! अबतक आपकी कृपा मेरे ऊपर रही । आपकी ही कृपा के कारण मैंने दक्षिणाधीश (देवराय) की 'मुत्त्याल-शाला' (मोती-भवन) में स्वर्णाभिषेक प्राप्त किया । यह सम्मान आपकी वाणी द्वारा आन्ध्र-भाषा का महाकाव्य 'शृङ्गारनैषध' रचने के कारण ही प्राप्त हुआ है । शास्त्रार्थ में गौड़ डिण्डिमभट्ट को पराजित कर उनके काँसे के ढक्के (बड़े ढोल) को फोड़वा दिया । चन्द्रशेखरक्रिया-शक्ति-उपाधिधारी देवराय के समक्ष कविसार्वभौम की उपाधि पाई । अब रावसिंगम् महीपाल की सभा में जा रहा हूँ । यहाँ पर भी आपकी कृपादृष्टि रहे, यही आपसे मेरी विनती है ।

सन् १४१० ई० के लगभग प्रथम सर्वज्ञ सिंगमनाय ने महाकवि श्रीनाथ का असाधारण सम्मान किया था । शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक आधारों से पता चलता है कि उस समय महाकवि रेड्डी राजाओं के दरबार में शिक्षाधिकारी के पद पर थे । ऐसी दशा में वे

कर्णाटक-राजाओं के यहाँ कैसे गये ? इस संशय का उत्तर यों है—एक दरबार के कवि को अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन कर गौरव या सम्मान प्राप्त करने के लिए दूसरे राजाओं के दरबारों में जाने पर उस समय कोई बन्धन नहीं था। जैसे अमर मधु-संचय के लिए विविध वृक्षों पर जाता है और मधु-संचयन कर अपने स्थान में लौट आता है, वैसे ही कवि सहृदय, विद्याप्रेमी और साहित्य-मर्मज्ञ राजाओं के दरबार में जाकर, उनके द्वारा आदर एवं सम्मान प्राप्त करके, अपनी यशश्चन्द्रिका को चतुर्दिक् फैलाने के लिए निर्बन्ध था।

उपमुक्त पद्य के आधार पर इसका भी निर्णय हो जाता है कि श्रीनाथ का कनकाभिषेक प्रथम देवराय ने ही किया था। सर्वज्ञ सिंगमनाय की राजसभा में जाते समय ही श्रीनाथ ने सरस्वती से प्रार्थना की थी कि वहाँ पर इस गौरव का अपमान न हो। उन्हें इसके पूर्व ही स्वर्णाभिषेक प्राप्त हुआ और सार्वभौम की उपाधि भी उपलब्ध हुई। कर्णाटक-राज्य के संगमवंशी राजा ही देवराय थे। संगमवंश में देवराय-नामधारी चार राजा हुए हैं। उनमें प्रथम देवराय ने सन् १४०६ से १४२२ ई० तक और द्वितीय ने सन् १४२२ से १४४७ ई० तक राज्य किया था। शेष दोनों श्रीनाथ महाकवि के उपरान्त हुए हैं। ऐतिहासिक सूत्रों की छानबीन से प्रथम देवराय का समय ही श्रीनाथ के लिए ठीक बैठता है।

श्रीनाथ ने स्वयं कहा है कि चन्द्रभूषणक्रिया-शक्ति देवराय के समक्ष 'कविसार्वभौम' नामक उपाधि प्राप्त की है। द्वितीय देवराय के समय में चन्द्रभूषणक्रिया-शक्ति उपाधिधारी कोई व्यक्ति नहीं था। ताम्रलेखों से विदित हो गया है कि चन्द्रभूषण-क्रिया-शक्ति उपाधिधारी व्यक्ति विजयनगर के राजाओं के कुलगुरु थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रथम देवराय ने ही चन्द्रभूषणक्रियाशक्ति-विरुदावली (उपाधि) प्राप्त की थी। इन्हीं प्रथम देवराय के दरबार में डिण्डिमभट्टारक नामक कवि को हराकर श्रीनाथ महाकवि ने 'कविसार्वभौम' उपाधि के साथ कनकाभिषेक भी प्राप्त किया था।

एक दन्तकथा—कोण्डवीडु से प्राप्त एक ताम्रपत्र में यह वृत्तान्त है कि राजापेद्दकोमटि वेमारेड्डी ने एक ही स्तम्भवाला महल बनवाया। उसकी अद्भुत कला और कारीगरी की सर्वत्र चर्चा थी। प्रसङ्गवश, श्रीनाथ ने देवराय की सभा में इसका उल्लेख किया। इसपर देवराय ने भी अपनी राजधानी में उसी प्रकार का महल बनवाने की अभिलाषा से, इस कला का अध्ययन करने और इसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए, कुछ कारीगरों एवं शिल्पियों को रेड्डी-राजाओं की राजधानी कोण्डवीडु भेजा। इस सौध-निर्माण का उल्लेख श्रीनाथ ने अपनी सूक्तियों (चाटुओं) में किया है।

इससे हमें भली भाँति पता चलता है कि उस समय केवल काव्य-कला का ही विकास नहीं हुआ; बल्कि अन्य ललित कलाओं का भी समुचित रूप से विकास होता रहा। देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। लोग कला-प्रेमी थे। राजा के विद्वान् होने के कारण, कलाओं की उन्नति भी उस समय में हुई।

डिण्डिम की कहानी - 'दीनार टंकाल' नामक पद्य में वर्णित है, कि श्रीनाथ ने गौड़ डिण्डिमभट्ट के काँसे के ढक्के (बड़े ढोल) को फोड़वा दिया। यह डिण्डिमभट्ट कौन थे ? वास्तव में 'डिण्डिम' एक वाद्यविशेष है। राजसभा में जिस व्यक्ति के जाते समय यह डिण्डिम बजाया जाता है, उसे डिण्डिम या डिण्डिमभट्ट कहकर पुकारने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी। अर्थात्, उस व्यक्ति को 'डिण्डिम' की उपाधि प्राप्त थी। ये डिण्डिम-उपाधिधारी चार व्यक्ति हुए हैं। उनमें द्वितीय डिण्डिम को श्रीनाथ ने प्रथम देवराय के दरबार में पराजित किया था। इस द्वितीय डिण्डिमभट्ट का असली नाम 'अरुण गिरिनाथ' था।

उपर्युक्त पद्य में श्रीनाथ ने प्रौढ़राय का उल्लेख किया है। यह देवराय का विशेषण-मात्र है। श्रीनाथ ने अपनी कृतियों में देवराय का 'वीरप्रताप' और 'प्रौढ़' शब्द जोड़कर उल्लेख किया है। शिलालेखों में हमें इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीनाथ ने अपनी कृतियों में अपनी उपाधियों का उल्लेख किया है। शृङ्गारनैषध और शिवरात्रि-माहात्म्य में 'सकलविद्यासनाथ श्रीनाथनामधेय' नाम से अपना परिचय दिया है, तो भीमेश्वरपुराण तथा हरविलास में 'सुकविजनविधेय श्रीनाथनामधेय' कहा है और भीमेश्वरपुराण के चौथे और छठे उच्छ्वासों में 'सुकविजनविधेय' कविसार्वभौम श्रीनाथनामधेय' कहकर अपनी उपाधि का उल्लेख किया है।

श्रीनाथ का काव्य-सौन्दर्य—एक लोकोक्ति है—'पण्डित कवि नहीं हो सकता।' पर यह बात श्रीनाथ के प्रति लागू नहीं होती। तर्क और व्याकरण में श्रीनाथ ने जो असाधारण पाण्डित्य प्राप्त किया, उसे अपने लोकानुभव के साथ समन्वयित कर, तेलुगु-साहित्य को प्रदान किया है। गङ्गा की धारा में भी उतार-चढ़ाव हो सकते हैं, परन्तु उनकी कविता-धारा समान रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है। कविता का प्रारम्भ भले ही कठिन प्रासों से उन्होंने किया हो, परन्तु यति और प्रासों के चुनाव में निरर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया। एकरस कविता रचने की कला उन्हें प्राप्त थी। उनकी कविता संस्कृत-शब्द-बहुला होती हुई भी मृदु, मधुर एवं अत्यन्त मनोहर है। रसराज शृङ्गार का वर्णन उन्हें अत्यन्त प्रिय था। संदर्भ के अनुसार अतिस्वाभाविक रूप से अनेक लोकोक्तियों एवं कहावतों का अपनी कविता में समावेश कर अपनी रचनाओं को तेलुगु-साहित्य के लिए अलङ्कारप्राय बना दिया है। श्रीनाथ बहुमुखी प्रतिभा रखते थे। उनका काव्यादर्श बाद के कवियों के लिए अनुकरणीय रहा है। कविता की दृष्टि से देखा जाय, तो तेलुगु में महाकवि तिकना के उपरान्त उन्हीं का स्थान होगा।

कुछ लोग श्रीनाथ की कविता को कठिन कहते हैं। वास्तव में, वह कठिन है भी। परन्तु 'राधामाधव' के कवि चेल्लय (राधामाधव कवि) ने श्रीनाथ की कविता की बड़ी प्रशंसा की है। 'सूनास्त्रप्रमदामदस्फुरित.....' नामक पद्य इसका अच्छा उदाहरण है। केवल

चेलयकवि ने ही नहीं, बल्कि असंख्य कवियों ने अपने काव्यों के प्रारम्भ में पूर्व-कवि-स्तुति के अन्तर्गत श्रीनाथ की विशिष्टता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महाकवि रेड्डी-राजाओं के समय के 'कविता-महल' के प्रधान स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं, शैलियों तथा आदर्शों के द्वारा उस युग का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिए रेड्डी-राजाओं का समय तेलुगु-साहित्य में 'श्रीनाथ-युग' नाम से विख्यात है।

श्रीनाथ की कृतियाँ—महाकवि की रचनाओं में विशेष ख्यातिप्राप्त काव्य शृङ्गारनैषध है। यह आठ उच्छ्वासों का काव्य है। यह कृति महाकवि ने पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के महामन्त्री मामिडि सिंगय्या को समर्पित की है। श्रीहर्ष-कृत संस्कृत-नैषध का यह आन्धीकरण (आन्ध्र-भाषा में अनुवाद) है। इस काव्य के सम्बन्ध में पण्डितों ने कहा है कि 'नैषधं विद्वदौषधम्'। हर्ष-रचित नैषध के सम्बन्ध में ऐसी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, जो उसके कठिन होने का परिचय देती हैं। कठिन काव्य होने पर भी उसमें वर्णित भाव अत्यन्त मनोहर हैं और पण्डितों के लिए आनन्ददायक भी। महाकवि ने यह भी लिखा है कि कृतिपतिम गिनामात्य संस्कृत-नैषध का बराबर अध्ययन करते हुए उस काव्य का आनन्द लेते थे।

नैषध के आन्धीकरण में श्रीनाथ ने जो रीति अपनाई, उसका इस प्रकार काव्य के अन्त में उल्लेख किया है—

‘महाकविहर्ष-कृत शृङ्गारनैषध का मैं तेलुगु-भाषा में अशेष मनीषियों के हृदयङ्गम योग्य रीति में—शब्द का अनुसरण कर, अभिप्राय (भाव) को समझ, रस-पोषक अलङ्कार-भूषणों द्वारा परिपुष्ट बना करके औचित्य का आदर, अनौचित्य का अनादर कर मातृकानुसार कहूँगा।’

इस काव्य की भाषा को लोग अत्यन्त कठिन बतलाते हैं, परन्तु संस्कृत-भाषा में रचित नैषध का अनुवाद होने के कारण, उसके भाव-गाम्भीर्य को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि श्रीनाथ कवि की

भाषा सहज ही बन पड़ी है। इससे भी कठिन भाषा का प्रयोग अनेक तेलुगु-कवियों ने किया है। संस्कृत के विद्यार्थी भी काव्यपञ्चक के उपरान्त ही नैषध पढ़ना प्रारम्भ करते हैं।

भीमेश्वरपुराण—इस काव्य के ‘गोदावरीखण्ड’ और ‘भीमखण्ड’ नामान्तर हैं। कवि ने ‘बन्धुरसपादलक्ष’ नामक पद्य में बताया है कि स्कन्दपुराणान्तर्गत गोदावरीखण्ड नामक एक भाग का यह आन्ध्रीकरण है। यह भाग स्कन्दपुराण का सार माना जाता है। इस कथा-वस्तु को ग्रहण कर कवि ने उसे प्रबन्ध-काव्य का रूप दिया। इसमें गोदावरीमण्डल में स्थित द्राक्षाराम-तीर्थ तथा वहाँ पर प्रतिष्ठित श्रीभीमेश्वर की महिमा विशेष रूप से वर्णित है। इस सम्बन्ध में एक दन्तकथा भी प्रचलित है कि दक्ष ने यहीं पर यज्ञ किया था, जिसे वीरभद्र ने नष्ट किया।

इस क्षेत्र (तीर्थ) के सम्बन्ध में एक कथा और प्रचलित है कि महर्षि व्यास को काशी-नगरी में एक सप्ताह तक भोजन नहीं मिला। इससे वह क्रुद्ध होकर काशी को शाप देनेवाले थे। इसी समय अन्नपूर्णा देवी ने भोजन देकर उनका क्रोध शान्त किया। लेकिन, शिवजी ने महर्षि द्वारा काशी की निन्दा सुनकर, कुपित हो, आज्ञा दी कि महर्षि उनकी नगरी (विश्वनाथपुरी) में रहने योग्य नहीं हैं। इसपर महर्षि व्यास काशी को छोड़कर दक्षिण आये और महर्षि अगस्त्य के दर्शन किये। उनके द्वारा दक्षिण के पुण्य क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त कर, दक्षिण-काशी कहे जानेवाले द्राक्षाराम और वहाँ के आराध्यदेव भीमेश्वर की उपासना करते हुए काशी-स्याग के दुःख को भूलकर यहीं पर रह गये। यही इस काव्य की कथावस्तु है।

इस काव्य में श्रीनाथ ने अनेक स्थलों पर वाराणसी (काशी) और द्राक्षाराम को अभिन्न माना है। ‘दक्षिणकाशीनगरम् द्राक्षारामं भीमधामम्...’ नामक पद्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

काशीखण्डम्—महाकवि के काव्यों में शृङ्गारनैषध के बाद काशीखण्ड ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। संस्कृत में रचित

स्कन्दपुराण के विभिन्न खण्डों में से यह भी एक है। इसी खण्ड के आधार पर यह काव्य रचा गया है। महाकवि ने एक पद्य में बतलाया है कि स्कन्दपुराण संहिता के ५० खण्ड हैं। इनमें 'आनन्दवन' (काशी) का वर्णन भाव, कथोपकथन इत्यादि श्रोता और वक्ता के लिए भी आनन्ददायक है। इसलिए, मैंने इस काशीखण्ड के अनुवाद का उपक्रम किया।

'नैषधं विद्वदौषधम्' की भाँति पण्डित इस काव्य को 'काशी-खण्डमयः पिण्डम्' कहते हैं। काशी-तीर्थ का दूसरा नाम 'आनन्दवन' है। यह काव्य सात उच्छ्वासों में समाप्त हुआ है। इसमें काशी-तीर्थ तथा वहाँ के विभिन्न देवी-देवताओं का माहात्म्य वर्णित है। यही नहीं, गोदावरीमण्डल के द्राक्षाराम, कोटिफलि, राजमहेन्द्रवर, भद्राचलम् आदि पुण्य-तीर्थों तथा गौतमी, काशी, वृद्धगौतमी इत्यादि पवित्र नदियों की महिमाएँ, अगस्त्य महर्षि की तीर्थ-यात्रा के सन्दर्भ में, भक्तों के लिए आनन्ददायक शैली में वर्णित हैं।

इसके अलावा सन्दर्भ के अनुसार नारी-धर्म इत्यादि के साथ, समान शत्रु के होने पर कैसे सभी प्रकार के सुख अरुचिकर हो जाते हैं, इन सबका वर्णन किया है। अन्त में कवि ने बताया है कि नाना प्रकार के शास्त्रों का अभ्यास, धनार्जन, सन्तान-प्राप्ति आदि में ही सारा समय बिताया है, परन्तु काशीनाथ के भजन और अर्चन की ओर ध्यान नहीं दिया। फिर महर्षि व्यास के बारे में भी कहा है कि आपने अनेक पुराणों की रचना की... सब-कुछ किया, सबका ज्ञान रखते हुए पुण्य गुणों की राशि काशी-नगरी की निन्दा कैसे की?

हरविलासम्—संस्कृत-भाषा में बालभारत, बालरामायण, विद्व-शालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी तथा काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ रचकर विशेष ख्यातिप्राप्त महाकवि राजशेखर ने 'हरविलास' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। श्रीनाथ की कृति को उक्त ग्रन्थ का अनुवाद बताया जाता है। परन्तु, तेलुगु में वह हरविलास इस समय उपलब्ध नहीं है। वह सात उच्छ्वासों का प्रबन्ध था। उसमें शिवजी की लीलाएँ वर्णित थीं।

पलनाटिवीरचरित्रमु—यह 'मञ्जरीद्विपद' नामक छन्द में रचित पद्य-काव्य है। कुछ लोग इसे श्रीनाथ की रचना नहीं मानते हैं। इसमें कई दोष भी दिखाई देते हैं। यह आन्ध्र-देश की एक प्रधान ऐतिहासिक घटना के आधार पर निर्मित है।

महाकवि श्रीनाथ ने समय-समय पर अनेक चाटूक्तियाँ कही हैं। हम यहाँ एक उदाहरण दे रहे हैं—महाकवि पलनाडु-प्रदेश (वर्तमान गुण्टूर जिले) में भ्रमण कर रहे थे। उन्हें जब कहीं भी पानी नहीं मिला, तब अपने इष्टदेव शिवजी से प्रार्थना करते हैं—

सिरिगल वानिकि जेल्लुनु

दरुणुलु पदियारुलेव दग बैड्लाहन्

दिरिपेमुन किद्दरांड़ !

परमेश ! गङ्ग विडुमु पार्वति चालुन ।

हे ईश्वर ! यह कार्य तो धनियों का है। वे चाहें, तो हजारों पत्नियाँ रख सकते हैं। आप तो मधुकरी करके जीनेवाले हैं। आपके लिए दो पत्नियों की आवश्यकता ही क्या ? पार्वतीजी को रख लीजिए और गङ्गा को छोड़ दीजिए।

महाकवि के समकालीन—श्रीवेटूरि प्रभाकरशास्त्रीजी के मतानुसार महाकवि वम्मेर पोतन्ना इनके समकालीन हैं। कुछ विद्वानों का तर्क है कि पोतन्ना का जन्म श्रीनाथ के बाद हुआ है। अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि महाकवि पोतन्ना केवल श्रीनाथ के समकालीन ही नहीं, अपितु उनके बहनोई भी थे। इनके रिश्ते के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कथाएँ आज भी प्रचलित हैं। पोतन्ना ने आन्ध्र-महाभागवत की रचना की है। उसे सुनकर श्रीनाथ महाकवि ने किसी राजा को समर्पित करारकर पोतन्ना की आर्थिक दशा सुधारनी चाही; परन्तु पोतन्ना ने न माना, वे कृषि-कार्य को ही पसन्द करते थे। निःशङ्क कोम्मना, भैरवकवि, पिल्लल मरिपिन विरन्ना आदि भी इनके समकालीन थे।

श्रीनाथ का चरित्र और स्वभाव—कुछ पण्डितों का विचार है कि श्रीनाथ महाकवि लम्पट और अपव्ययी थे। उनके ग्रन्थों से पता

चलता है कि वे शृङ्गार-प्रिय व्यक्ति थे। परन्तु इतने मात्र से उनके चरित्र पर कलंक नहीं लगाना चाहिए। वे सदा-सर्वदा राजा-महाराजाओं की महासभाओं में महापण्डितों के समक्ष विद्या-नोष्ठी द्वारा अपना समय बिताते थे। शिवभक्त थे। महामन्त्रोपासक थे। उनके काव्यों में शृङ्गार रस के साथ ही समान रूप से शान्त-रस का भी पोषण हुआ है। भक्ति और नीति का प्रबोध किया गया है। जब वे कोण्डवीडु में रेड्डी-राजाओं के यहाँ शिक्षा-धिकारी के पद पर थे, तब कितने ही पण्डित-शिष्य उनके घर पर ही भोजन किया करते थे। यह उनकी उदारता और स्नेह का परिचायक है।

देवराय ने इनका स्वर्णाभिषेक किया, तो महाकवि ने उस धन को ब्राह्मणों और पण्डितों में बाँट दिया। किसी के पूछने पर उन्होंने जवाब दिया था—‘स्नानोदक का पान करना उचित नहीं है।’ महाकवि जिस समय घर पर नहीं रहते थे, उस समय का पूरा खर्च मैलार रेड्डी-राजा वहन किया करते थे। अन्तिम समय में भी एक ग्राम कौल पर लेकर कृषि-कार्य करना प्रारम्भ किया; परन्तु किसी के यहाँ जाकर दान नहीं माँगा। वे आत्माभिमानी थे। भीमपुराण और काशीखण्ड के कुछ पद्यों द्वारा पता चलता है कि वे अधिक भोजनप्रिय थे। प्रतिदिन स्वयं पञ्चभक्ष्यों से पूर्ण भोजन करते और दूसरों को भी कराते थे। धन के सम्बन्ध में महाकवि ने कहा है—

दानमु भोगमु नाशमु

पूनिकतो नीमूडु गतुलु भुवि धनमुनकुन्

दानमु भोगमु नेरुगनि

धनमुनकुन गति तृतीयमे पोसगन् ।

इस संसार में धन की केवल तीन ही अवस्थाएँ हैं—दान करना, भोगना अथवा व्यर्थ ही नाश। जो धन दान और भोग को नहीं जानता है, अर्थात् इन दोनों में लगाया नहीं जाता है, उसकी अवस्था तीसरी (नाश) ही है।

इस सूक्ति से परिचित व्यक्ति क्या धन का संग्रह करना चाहेगा ?

कुछ पद्यों को आधार मानकर कवि-स्वभाव का निर्णय करना न्याय-सङ्गत नहीं है।

महाकवि की अवसान-दशा—श्रीनाथ ने अपना अधिकांश जीवन सुखपूर्वक ही व्यतीत किया; परन्तु बुढ़ापे में इन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े। कृष्णा नदी के तट पर स्थित वोड्डुपल्ले नामक गाँव में जमीन कौल पर लेकर खेती प्रारम्भ की, तो बाढ़ के कारण सारी फसल नष्ट हो गई। जमींदार को कौल की रकम चुका नहीं पाये। अधिकारी इन्हें अनेक यातनाएँ देने लगे। इसी दशा में महाकवि का देहान्त हो गया। इस वर्णन को पढ़ते समय हमारा हृदय द्रवीभूत हो जाता है। स्वयं कवि के शब्दों में उनकी अन्तिम दशा का वर्णन देखिए। यहाँ हम केवल भावार्थ दे रहे हैं—

‘मैं जब राजपथ से निकलता, तब इस कविराज के कण्ठ में हाथी माला पहनाता। विद्वान् वीरभद्रा रेड्डी द्वारा अच्छी प्रशंसा और सम्मान पाया।’ अन्त में कृष्णा नदी ने खेती की कुछ फसल नष्ट कर दी, तो तिल और मूँग को पक्षियों ने समाप्त कर दिया। वोड्डुपल्ले को कौल पर लेकर मैंने धोखा ही खाया। अब मैं कौल के ७०० रुपये कैसे चुकाऊँ? वीरारेड्डीजी तो ईश्वर में जा मिले, अब मुझे रत्नजटित वस्त्र कौन देगा? देवराय का देहान्त हो गया, अब कस्तूरी का खर्च कौन सँभालेगा? विस्सन्न मन्त्री का स्वर्गवास हो गया है, अब किसकी पंक्ति में स्वर्ण-थाल में भोजन करूँगा? राजा मैलार रेड्डी कैलास गये हैं, इस समय प्रतिदिन का खर्च कौन वहन करेगा? भास्कर तो पहले ही इस पृथ्वी को त्यागकर चले गये। आगे इस कलिमुग में रहने से कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होंगी। यह सोचकर मेरा हृदय फटा-सा जा रहा है। इसलिए, अब मैं अमरपुरी की यात्रा कर रहा हूँ।’

कविसार्वभौम श्रीनाथ का तेलुगु-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और वे मध्ययुग के प्रतिनिधि कवि थे। प्रबन्धों के निर्माण की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।



सूर और पोतन्ना

भारत में गीता के बाद भागवत का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गीता की रचना महात्मा व्यास ने की थी और इसके साथ-साथ उन्होंने भागवत और महाभारत का भी सर्जन किया था।

संस्कृत-भागवत में २०,००० श्लोक हैं। कुछ लोग २२,००० भी मानते हैं। तेलुगु-भागवत को पोतन्ना ने ३०,००० पद्यों में सुशोभित किया था, ती सूरदास ने सवा लाख पदों से, परन्तु प्राप्त हैं केवल ७,८ हजार पद ही।

पोतन्ना का जन्म शा० श० १३००' में हुआ था। (अर्थात्, सन् १३७७ ई० में) सूरदास का जन्म विक्रम सं० १५४० में हुआ था। इससे हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि ये दोनों समकालीन नहीं थे।

भागवत का मूल रूप संस्कृत में ही है। लेकिन भक्त कविजनों ने अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद करके समाज का बड़ा उपकार किया था। उस समय प्रान्तीय भाषाएँ प्रौढ नहीं थीं। सब कहीं संस्कृत का ही बोलबाला था। उसी भाषा को राजाश्रय प्राप्त था। अतः, दक्षिण की सभी भाषाएँ ईसा के पूर्व प्रायः अन्धकार में थीं।

तेलुगु का साहित्य ११वीं शताब्दी में विकास के पथ पर पग रखने लगा था। कवित्रय (नन्नय, एर्शप्रगड, तिवक्कना) ने राजाश्रय में

रहकर ही महाभारत का तेलुगु में अनुवाद किया था, जैसे वीरगाथा-काल के कवियों ने राजाश्रय में रहकर ही साहित्य की सृष्टि की थी। किन्तु, भक्ति-काल में उत्तर-भारत में कवियों को राजाश्रय प्राप्त न था, लेकिन दक्षिण में राजा लोग कवियों को प्रोत्साहित कर रहे थे। फिर भी, भक्त कवियों ने भूभर्त को अपनी कृति सौंपना अपमान समझा। वे अपने इष्टदेव को ही कृतिभर्ता बनाने में आत्मसम्मान का अनुभव करते थे।

१४वीं शताब्दी में सर्वज्ञ सिगम राजा की मृत्यु हुई। दक्षिण हिन्दुस्तान कई टुकड़ों में विभक्त हुआ। ओरुगल्लु अपना प्राक्तन वैभव खो बैठा। दक्षिणी पठार का स्थान, जहाँ वहमनी-साम्राज्य था, तुरुष्कों के अधीन हो गया था।

उत्तर में मुगल-सेना के संचालक तैमूर लूटने में लगे हुए थे। वहाँ का राज्य भी विभक्त हो गया था। हिन्दू-जनता निराश्रित थी और असहाय जनता ने भगवान् पर भरोसा रखकर भविष्य की ओर देखा। उनका विश्वास था कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करेंगे। सोमनाथ मन्दिर के गिरा दिय जाने पर सगुण भगवान् उनकी रक्षा न कर सके, अतः निराकार भगवान् की ओर भी कुछ लोग आकृष्ट हुए। इस प्रकार भक्ति की विभिन्न धाराएँ भारत में बहने लग गईं। रामानन्द, कबीर इत्यादि के गानामृत का बोध और भक्तों की वाणियाँ चारों ओर सुनाई देने लगीं।

ऐसी स्थिति में पोतन्ना ने प्राचीन आन्ध्र के वैभव का स्मरण किया और वर्तमान से उसकी तुलना की। वर्तमान समाज अन्धकार के गहन गर्त में विलीन होता जा रहा था और वे भविष्य की कल्पना कर सिहर उठे।

पोतन्ना ने अपनी बाल्यावस्था में 'भोगिनी-दण्डकम्' की रचना की थी। वे बड़े रसिक थे। उनके सिर पर यौवन और दारिद्र्य सवार थे। आर्थिक सङ्कट ने उन्हें राजाश्रय में जाने को बाध्य किया। अतः उन्होंने राजाश्रय में जाने का निश्चय किया, लेकिन आत्मा-

लोचन करने के पश्चात् राजाश्रय में जाने से अपने-आपको रोक लिया ।

इस प्रकार, जब पोतन्ना कोई रास्ता न पाकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे थे, तब सच्चिदाचन्द योगी ने इन्हें मार्ग दिखाया । योगी ने भगवान् की उस परम महिमा का वर्णन किया, जो सदैव भक्तों की रक्षा में लगे रहते हैं । गुरु का प्रभाव उन पर दिन-दिन बढ़ता गया । उन्हें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का बोध हुआ । राम, कृष्ण, हरि इत्यादि शब्द भगवान् के पर्यायवाची मालूम हुए । दया, सत्य और पवित्रता की उपासना करने लगे और वासनाओं से विरक्ति हो गई ।

काव्य-क्षेत्र में भी अन्य कवियों ने पर्याप्त साधना की थी । उनके पहले भास्कर कवि ने रामायण की रचना की थी । इसका प्रभाव पोतन्ना में परिवर्तन ला रहा था । कहते हैं, एक दिन ईश्वर की उपासना में पोतन्ना मग्न थे कि उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी— 'श्रीमद्भागवत की रचना करो, भव-बन्धन से मुक्ति मिलेगी ।' इसी उपासनावस्था में इनके मुँह से अचानक ये शब्द निकल पड़े ।

‘ओनरन्नय्यादि कवुलि मुर्विन वुराणवलुल
तेनुगुन जेमुचु मत्पुराकृत शुभोदिक्यंबु द्रानेह्दो
तेनुगुनु जेयरु मुन्नु भागवत्मुन दीनिन् देनिगिचि ना
जननंबुन् सफलंबु जेसद बुनर्जन्म लेडंकुगन्’

नन्नय आदि कवियों ने पुराणों का अनुवाद तेलुगु में करके अपने जन्म को सफल बनाया है । ये केवल नाम, प्रतिष्ठा और पैसे के लिए रचना नहीं करते थे । इनका उद्देश्य भव-बन्धन से मुक्ति पाना था । जहाँ सूरदास ने व्यास-कृत भागवत का अनुवाद किया था, वहाँ पोतन्ना ने बोपदेव के भागवत का अनुवाद (आन्धीकरण) किया । क्योंकि, महाराष्ट्र आन्ध्र का सीमाप्रान्त है । ओरुगल्लु (वारंगल), जहाँ पोतन्ना रहा करते थे, महाराष्ट्र से सन्निकट सम्बन्ध रखता था । भाषा का भी पारस्परिक बन्धन था । अतः, बोपदेव का संस्कृत-भागवत उन्हें

अधिक रुचिकर रहा। उसके अनुवाद में पोतन्ना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

जैसे सूरदासजी वल्लभाचार्य से दीक्षा लेकर उनके उपदेशानुसार भागवत की रचना में मग्न हुए थे, वैसे ही चिन्दानन्द योगी का उपदेशामृत पोतन्ना को प्राप्त था। पोतन्ना के समय में दक्षिण में भक्ति की धारा अबाध गति से बहने लग गई थी। यों तो, पोतन्ना सूर के ठीक एक शताब्दी पहले हुए थे और सूर के जन्म के पहले ही पोतन्ना की मृत्यु हो गई थी। अतः, ये दोनों समकालीन न होते हुए भी अनेक विषयों में इनमें समानता पाई जाती है।

१. दोनों भक्त तथा प्रतिभावान् थे।
२. दोनों ने काव्य-रचना के लिए गुरु का प्रोत्साहन पाया।
३. दोनों किसी राजा को अपनी कृति देने को तैयार न थे।
४. दोनों अपने उपास्य देव की लीला में मग्न थे। जहाँ सूर अपने इष्टदेव के साथ खेला करते थे, वहाँ पोतन्ना भगवान् की पदरज के पास पड़े रहने में ही अपना गौरव मानते थे।
५. दोनों का काव्यगत विषय एक ही था। यद्यपि दोनों का क्षेत्र एक था, फिर भी उपासना-पद्धति, व्यावहारिक जीवन, समाज के प्रति दृष्टिकोण तथा जीवन-निर्वाह के विषयों में दोनों बिलकुल भिन्न दिखाई देते हैं।

अन्तर—

१. काव्य की रचना में पोतन्ना को केवल चिन्दानन्द योगी की नहीं, बल्कि श्रीरामचन्द्र की भी प्रेरणा मिली थी।
२. सूर कृष्ण के रूप-माधुर्य के ही उपासक थे और वे बालकृष्ण में ब्रह्माण्ड देखा करते थे। पोतन्ना कृष्ण को केवल गुणनिधान मानते थे।
३. भ्रमरगीत में सूर ने ज्ञान और भक्ति की होड़ लगाई तथा विभिन्न प्रकार की दलीलों को उपस्थित कराके उद्धव का १०१

ग्रमण्ड चूर कराय। पोतन्ना ने गोपियों को आध्यात्मिक रूप देकर आदर्शप्राय बनाया।

४. पोतन्ना परिवार के साथ रहा करते थे। उन्हें पारिवारिक जीवन का अच्छा अनुभव था। इतना होते हुए भी वे पहुँचे हुए भक्त थे। सूर भक्त ही नहीं, सन्त भी थे।
५. भक्त तो दोनों थे। किन्तु पोतन्ना शिव एवं राम के भक्त थे। सूर केवल कृष्ण के ही उपासक थे।
६. सूर ने बाल-क्रीड़ा और रास-लीला को अधिक प्रधानता दी। पोतन्ना ने जीवन के विविध पक्षों का आदर्शपूर्ण अनुभव समाज के सामने रखा।
७. पोतन्ना के सामने राजा की ओर से जो कठिनाइयाँ उपस्थित की गईं, उनसे सूर सर्वदा मुक्त थे।
८. पोतन्ना ने अपनी भक्ति के बल पर राजा और श्रीनाथकवि को भुकाया था। इस प्रकार की घटना सूर के जीवन में कोई घटी ही नहीं।
९. सूरदास अपने ईश्वर के साथ हठ भी करते दिखाई देते हैं। ये सख्य-भाव के उपासक थे। पोतन्ना तो विनयशील थे, इनकी भक्ति दास्य-भाव की है।
१०. दशम स्कन्ध के वर्णन में सूर ने जिस प्रतिभा और मनो-विज्ञान के दर्शन कराये, उसे पोतन्ना नहीं दिखा सके।
११. दशम स्कन्ध के वर्णन में सूर ने सागर में गागर भर दिया, तो पोतन्ना ने सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद का वर्णन करते हुए नवों रसों का जिस प्रकार से दिग्दर्शन कराया, उसमें उनकी प्रतिभा प्रशंस्य हुई।

विशेषताएँ—

१. अनुवाद करने में पोतन्ना ने जिस पद्धति का अनुसरण किया, वह अनुपम एवं प्रशंसनीय है।

२. कठिन स्थलों पर उसकी व्याख्या करते हुए विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया और मूल पात्रों की रक्षा की ।

३. नीरस घटनाओं को सरस बनाकर काव्य का महत्त्व बढ़ा दिया ।

४. कविता वैचित्र्य से दूर रहनेवाले वेदान्त-विषयों का प्रदिपादन मधुर एवं कोमल शब्दों से सुसज्जित कर उसमें कमनीयता उत्पन्न की ।

५. मूल भावों की रक्षा में बड़ी दक्षता दिखाई है और आवश्यकता पड़ने पर बीच-बीच में छोटी-छोटी घटनाओं को जोड़कर प्रसङ्ग को सरस भी बनाया है ।

६. छन्द, अलङ्कार और रसों की दृष्टि से काव्य प्रौढ कहा जा सकता है ।

इन उपर्युक्त घटनाओं से पोतन्ना का भागवत केवल अनूदित नहीं रहा, वरन् उसने स्वतन्त्र महाकाव्य का रूप पाया । अतः, पोतन्ना को महाकवि कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी । काव्य के सभी लक्षण भागवत में विद्यमान हैं और महाकवि के गुण पोतन्ना में ।

दोनों कवि स्वतन्त्र प्रकृति के थे । ये अपनी कृतियों को किसी राजा को सौंपने में काव्य तथा कवि का अगौरव मानते थे । दोनों ने अपने काव्य की रचना भगवान् को कृतिभर्ता मान कर की । पोतन्ना का यह पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है ।

‘इम्मनुजेश्वराधमुल किच्चि पुरम्बुलु बाहनम्बुलुन्
सोम्मुलु कोन्नि पुच्चुकोनि सोक्कि शरीरेमु वासि कालुचे
सम्मेट ब्रेदुलन् बढक सम्मति श्रीहरि किच्चि चेप्पेनी
बम्मेर पोतराजोकडु भागवतम्बु जगद्धितम्बुगन्’

इस काव्य को किसी राजा को सौंपकर प्रतिफल के रूप में उससे नगर, वाहन, आभूषण लेने से परलोक में यम की यातनाएँ सहनी पड़ेंगी । उनसे दूर रहने के लिए मैंने अपनी इच्छा से अपना काव्य

विष्णु को सौंप दिया। इस कृति का स्वामी मनुष्य-मात्र नहीं बन सकता। मानव इसका कृतिभर्ता बनने के लिए सर्वथा अयोग्य है।

पोतन्ना का भागवत इतना लोकप्रसिद्ध हुआ कि कर्णाटक के राजा ने मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने की इच्छा से पोतन्ना के मित्र एवं रिश्तेदार श्रीनाथ को मनवाने भेजा। उस समय पोतन्ना खेत में काम कर रहे थे। श्रीनाथ ने उनसे कुशल प्रश्न पूछा।

‘कृषक महाशय, कुशल तो है?’

तब पोतन्ना ने उत्तर दिया—

‘बाल रसाल साल नव पल्लव कोमल काव्य कन्यकन
गूळ किच्चि यप्पडुपु कूडू भुजिचुट कण्टे सत्कबुल
हालिकुलैन नेमि गहनान्तर सीमल गन्ध मूल को
द्वानिकुलैननीमि निजदार सुतोदर पोषणार्थ मै।’

ग्राम के कोमल पत्तों-जैसी काव्य-कुमारी को उन दुष्ट लोगों के हाथों में सौंपकर सुख भोगने की अपेक्षा सत्कवि जङ्गलों में अपनी पत्नी तथा सन्तान का पेट भरने के लिए खेती करना अपने गौरव की बात समझते हैं। हम इतने नीच नहीं हैं कि पवित्र काव्य-कुमारी को अयोग्य एवं मूर्खों के कर्कश हाथों में सौंप दें। इससे बढ़कर पाप-कार्य और कौन हो सकता है। ऐसे सुखों को धिक्कार है। अपना पेट पालने के लिए हम स्वावलम्बी बनकर कानन-सीमा में अन्न पैदा करेंगे। उससे जो कुछ भी रुखा-सूखा, कन्द-मूल और फल मिलेंगे, उसीसे तृप्त होंगे। इसमें भले ही हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़े, किन्तु हम अपनी वाणी को धातु के टुकड़ों पर बेचना नहीं जानते हैं। हम मनुष्य हैं। इस नाते मानवता की रक्षा करना चाहते हैं। इसीमें हमें सुख है, गौरव तथा आनन्द है।

यह सुनकर श्रीनाथ आवाक् रह गये। उन्होंने कल्पना तक न की थी कि पोतन्ना से ऐसा उत्तर मिलेगा। कहने के लिए उनके पास कोई उत्तर भी नहीं था। लज्जा से सिर झुकता जा रहा था। विनम्रता के साथ उन्होंने कहा—‘कृषक-जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

किसान ही संसार का पालनहार है। फिर 'धनभूलमिदं जगत्' कहावत भी इस समय भूली नहीं जा सकती। इसके अभाव में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मैंने राजा को वचन दिया है कि भागवत को अवश्य दिलाऊँगा। मेरी लाज रखिए।'

श्रीनाथ की परिस्थिति सुनकर पोतन्ना चिन्ताग्रस्त थे। कोई जवाब नहीं दिया। उनको मौन देख श्रीनाथ ने सोचा 'मौनं स्वीकृतिसूचकं'। इसके बाद वे वापस गये और यह खबर उन्होंने राजा को दी।

इस प्रकार, पोतन्ना श्रीनाथ की बातों पर विचार करके तिलमिला उठे। उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। वे सोच रहे थे कि मैंने श्रीनाथ को अपना निर्णय नहीं सुनाया। उन्होंने जाकर राजा से कहा होगा कि पोतन्ना अपना काव्य सौंपने को तैयार है। राजा के पूछने पर मैं जवाब क्या दूँगा? इस चिन्ता में वे लीन थे कि उसी समय उनकी आँखों के सामने वाणी देवी सरस्वती आँसू गिराती हुई दिखाई पड़ी। तब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके चुप्पी साधने के कारण ही सरस्वती ने सोचा होगा कि मैं उन्हें दुष्टों के हाथ सौंप रहा हूँ। तब भारती को विश्वास दिलाते हुए पोतन्ना ने कहा—

‘काटुक कंठिनीरु चनुगट्टु पइन बडनेल वेड्च दो
कैटभ दैत्य मर्दनुनि गादिलि कोडल यों मदम्ब ओ
हाटक गभुराणि निनु नाकटिकिन गोंपोड यल्ल
कर्नाटकी किरात कीचकुल कम्भ त्रिशुद्धिग नम्मु भारती।

हे सरस्वती ! क्यों इस प्रकार अश्रु-धारा बहा रही हो। तुम्हारी कजलमयी आँखों से बहनेवाली अश्रु-धारा मेरे हृदय को विदीर्ण-कर रही है। तुम तो वसुन्धरा की माता हो, तुम्हें मैं इस बवंडर से बाहर ले जाकर किसी किरात या हृदयहीन राजा को सौंप नहीं सकूँगा। मनोवाक्कायकर्मणा मैं विश्वास दिलाता हूँ।

इस प्रकार, सरस्वती को आँसू बहाते देख पोतन्ना का हृदय भी रो पड़ता है। दरिद्र्य-बाधा से पीड़ित होकर भी पोतन्ना यह

विश्वास दिलाते हैं कि मैं ऐसा नीच काम करके अपना आत्मघात कभी नहीं कर सकूँगा ।

इस प्रसङ्ग को पढ़ते-पढ़ते पाठकों के हृदय करुणाप्रेरित भावों से द्रवीभूत हो जाते हैं । करुण-रस बाँध तोड़कर उमड़ पड़ता है । इस प्रकार, महाकवि पोतन्ना रुलाते हैं और रोते हैं और निवेदन यह करते हैं कि कविता पवित्र वस्तु है । उसे धन के लोभ में पड़कर नीचों के हाथों में सौंपकर सरस्वती के साथ अन्याय नहीं करना चाहिए ।

इधर श्रीनाथ ने आकर कर्णाटक-राजा को खबर दी कि पोतन्ना अपनी कृति सौंपने आ रहे हैं । कुछ समय बाद कवि को न आते देख राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और एक दिन शिकार खेलते-खेलते पोतन्ना के यहाँ पहुँच जाते हैं । पोतन्ना के इनकार करने पर राजा फौज के बल से उस काव्य को हस्तगत करना चाहते हैं । तबतक भागवत की पूर्ति नहीं हुई थी । श्रीरामचन्द्र स्वयं उनकी रक्षा कर रहे थे । भगवान् तो भक्तों के बड़े हिमायती हैं । उनके साथ रहने पर पोतन्ना का कौन क्या कर सकता था ? राजा ने पोतन्ना का घर जलाया । कई प्रकार की यातनाएँ दीं । पोतन्ना सबको भगवान् की इच्छा समझकर सहन करते जा रहे थे । अन्त में पोतन्ना के महत्त्व को राजा समझ जाते हैं और उनकी आँखें खुल जाती हैं । वह उस कृति के भर्त्ता होने में अपने को अयोग्य मानते हैं और पोतन्ना से क्षमा-याचना करते हैं ।

आन्ध्र-मीरा मोल्लाम्बा

आन्ध्र-देश की कवयत्रियों में मोल्लाम्बा का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। इन्होंने ही सर्वप्रथम कविता करके नारियों को मार्ग प्रदर्शित किया। इनके बाद आज तक अनेक स्त्रियों ने पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु कोई भी इनसे आगे नहीं बढ़ सकी। इनके जन्म और स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में आज भी मतभेद है। जाति के सम्बन्ध में भी कोई इन्हें ब्राह्मणी और कोई इन्हें कुम्हारिन मानते हैं। परन्तु, अनेक लोगों का कहना है कि इनका जन्म कुम्हार-परिवार में हुआ और इनके पिता कवि केसना थे। बताया जाता है कि राजा कृष्णदेव राय ने नेल्लूर जिले में रामाचारी नामक एक पण्डित को अग्रहारम् प्रदान किया था, जिसका नाम गोपवरम् था। उसी गोपवरम् में कवि केसना रहते थे।

केसना महान् भक्त, कवि और साधु पुरुष थे। इनकी एकमात्र सन्तान मोल्लाम्बा थी। मोल्लाम्बा 'मोल्ल' नाम से अधिक विख्यात हैं। मोल्ल की माता इनके बचपन में ही मर गई, अतः इनके पालन-पोषण का भार पिता केसना पर ही आ पड़ा। कवि केसना ने अपनी पुत्री को बहुत लाड़-म्यार से पाला-पोसा। मोल्ल बचपन से ही अधिक निडर और नटखट थीं। वे सदा गरीबों का पक्ष लेतीं और अन्याय का बड़ी धीरता के साथ विरोध करतीं। वे अपने समय की एक क्रान्तिकारिणी महिला थीं। उनके नाम से उस गाँव के पंच भी काँपते थे। उनका व्यवहार पंच को बड़ा भयङ्कर मालूम हुआ;

क्योंकि पंच की पोल खोलने में वह कभी आगा-पीछा न करती और सदा समय की बाट जोहा करती। कहीं पंच में दोष दिखाई दिया, बस जमकर उसका विरोध करती। पंच के अत्याचारों से ग्रामीण जनता क्षुब्ध थी। और, अत्याचारों की कोई सीमा न थी, इसलिए मोल्ल शीघ्र ही जनता की प्रेम-पात्र बनी। यह पंच के प्रधान रामाचारी को बहुत ही असह्य मालूम होने लगा। वह सदा मोल्लाम्बा को नीचा दिखाने की ताक में रहा करता था।

गोपवरम् के प्रधान पंच रामाचारी को कई ऐसे अवसर मिले, जिनसे मोल्ल को झुकाने का प्रयत्न किया। मोल्ल की ओर से उनके पिता केसना ने क्षमा माँगी, परन्तु ऐसे अवसरों पर भी वह कहती कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। आप क्षमा माँगते ही क्यों हैं ?

संसार और समाज का कलुषित वातावरण देख मोल्ल का हृदय धीरे-धीरे भगवान् की ओर प्रवृत्त होने लगा। मोल्ल का सत्याग्रह देख इनके गाँववालों ने कहा कि इसकी शादी हो जाय, तो यह सम्भवतः रास्ते पर आ जाय। गाँव के पंच ने भी उनके पिता को सलाह दी कि उनका विवाह उनके फुफेरा भाई से किया जाय।' परन्तु वह युवक मूर्ख था। जब उस युवक ने आकर मोल्ल से अनुरोध किया कि वह उसके साथ विवाह करे, तब मोल्ल ने एक लोहे की छड़ी को गरम करके हाथ दाग दिये।

अपने गाँव के दूषित वातावरण में रहकर मोल्ल ने दुनिया का कटु अनुभव प्राप्त किया। सभ्य कहलानेवालों की यातनाओं से पीड़ित अबोध ग्रामीण जनता के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति थी। वहाँ के घोर अत्याचारों और अन्यायों को देखकर दुनिया से इनका मन ऊब उठा। एक उत्सव के शुभ दिन में मन्दिर में गाँव-भर के लोगों के सामने पंच के पूछे जाने पर इनके हृदय से अचानक निकल गया

१—ग्राम-देश में लड़कियों का अपने फुफेरे भाइयों के साथ विवाह की प्रथा प्राचीन समय में प्रचलित थी। आज भी कहीं-कहीं यह रिवाज है, परन्तु धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

कि 'मैं मनुष्य मात्र से विवाह नहीं करूँगी। ईश्वर के साथ ही मेरा विवाह होगा।' लोगों ने इनकी हँसी उड़ाई और कइयों ने इस बात पर समझा कि यह इसीके योग्य है।

यों तो भक्ति नवधा मानी जाती है। प्रत्येक भक्त की भक्ति-पद्धति अपनी अलग होती है। साधक अपने इष्टदेव के साथ जिस तरह का सम्बन्ध जोड़ता है और जिस रूप में उन्हें प्राप्त करने की कामना रखता है, उसके अनुकूल उपासना-पद्धति को अपनाता है। आन्ध्र में शैव और वैष्णव दोनों प्रकार के सम्प्रदाय परम्परागत चलते आ रहे हैं। परन्तु वैष्णव-सम्प्रदाय में मुख्यतः राम-भक्ति का अधिक प्रचार हुआ है। आन्ध्र-देश के आराध्य देव भगवान् रामचन्द्र माने जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वे भद्रगिरि (भद्राचल) पर वास करते हुए यहाँ की रक्षा कर रहे हैं।

आन्ध्र के रामोपासकों में भक्त रामदास, पोतन्ना और त्यागराज मुख्य माने जाते हैं। इनके पश्चात् मोल्लाम्बा का नाम आदर के साथ लिया जाता है। रामदास और त्यागराज की भक्ति में हठ का समावेश है, तो पोतन्ना में विनय-भावना अधिक है। सेव्य-सेवक-भावना में पोतन्ना अद्वितीय है। ये आन्ध्र के तुलसीदास माने जाते हैं। अनेक विषयों में ये उनसे भी कहीं आगे बढ़े हुए माने जाते हैं। उपर्युक्त तीनों भक्तों को अपने ईश्वर पर अटूट एवं अबाध विश्वास था। भक्ति के आवेश में भक्त ईश्वर में तन्मय होकर उनका सान्निध्य प्राप्त करते हैं। इन तीनों भक्तों को अपने आराध्य के दर्शन हुए थे। इस दृष्टि से देखा जाय, तो कवयत्री मोल्लाम्बा की भक्ति उच्चतर मानी जा सकती है।

साधना—भक्त अपने आराध्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ सङ्कल्प के साथ साधना करता है। यदि साधना पक्की हो जाय तो सत्य की प्राप्ति होती है। कुछ लोग स्वभाव से ही भगवान् की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ दुनिया की ठोकरें खाकर वैराग्य को प्राप्त करते हैं। मोल्लाम्बा दूसरी कोटि में आती है। अपने यौवन में ही समाज

का कटु अनुभव होने के कारण ईश्वर की खोज में निकल पड़ती है। मार्ग में इनकी एक तपस्वी से भेंट होती है। इनका जिज्ञासु हृदय तपस्वी से कुछ जानने को व्याकुल होता है। वार्त्तालाप में मुनि के प्रश्न करने पर ये अपना आशय बताती हैं—‘महात्मन्, मैं ईश्वर से विवाह करने के उद्देश्य से जा रही हूँ। वे मुझे कैसे प्राप्त होंगे?’ तपस्वी इन्हें समझाते हैं कि वह निर्जन प्रदेश में बैठकर समाधिस्थ हो ईश्वर की प्रार्थना करे। परन्तु मोल्ल कब माननेवाली थीं। इनके हठ करने पर मुनिवर ने मूलमन्त्र बता दिया। उनका उपदेश था—‘हे भक्तिन्, तुम अपने आराध्य देव का नाम लेते-लेते आगे बढ़ती जाओ! पीछे लौटकर कभी न देखना। रास्ते में तुम्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ेगा, परन्तु विचलित न होना। तुम्हारे समक्ष पहाड़ हो; नदी-नाले, वन हों; दावाग्नि ही क्यों न जल रही हो, उन सबका विचार न कर आगे बढ़ती जाओ। जिस समय तुम ‘अहं’ को भूल जाओगी, उसी समय तुम्हारी पुकार का उत्तर मिलेगा। तुम जिस रूप में भगवान् को प्राप्त करना चाहती हो, उसी रूप का स्मरण करती जाओ। भगवान् अपने भक्तों को ईप्सित रूप में दर्शन देते हैं।’

मोल्ल ने बताया कि मैं भगवान् को पच्चीस वर्ष के युवक के रूप में प्राप्त करना चाहती हूँ। मुनि ने बताया, जैसा ध्यान होगा, वैसे दर्शन होंगे।

मोल्लाम्बा मुनि के उपदेश का सम्बल पाकर निद्रा, आहार, धूप, वर्षा, गर्मी, सर्दी का खयाल न करके आगे बढ़ती गई। एक स्थान पर दावाग्नि की लपटें चतुर्दिक् व्याप्त हो, सारे वन्य प्रदेश को भुलसा रही थीं। मोल्लाम्बा विचलित नहीं हुई। जब इन्होंने अग्नि में प्रवेश किया, तब वहाँ अच्छा-सा मार्ग बना हुआ मिला। ये सुरक्षित उस पार पहुँचीं। ये उसी प्रकार ईश्वर को जोर से पुकारती गईं। इनकी पुकार का उत्तर मिला, तो ये अपने नेत्र-द्वय खोल सामने देखती क्या हैं कि वही पच्चीस-वर्षीय नौजवान—इनकी ध्यान-मूर्ति—सामने प्रत्यक्ष खड़ा है। अपार आनन्द से तन्मय हो ये उस मूर्ति को देखती रह गईं।

इनका इष्टदेव एक भील-युवक की वेश-भूषा में प्रत्यक्ष है। वह मोल को अपनाकर कुछ समय तक इन्हें शिक्षा देकर इस योग्य बनाता है कि ये एक नारी के लिए आवश्यक समस्त प्रकार के विषयों के ज्ञान के साथ कविता करने की शक्ति अर्जित कर लें। अन्त में मोल अपना प्रण बताती है। इस पर वह युवक सलाह देता है—‘विवाह-संस्कार समस्त ग्रामवासियों के समक्ष हो जाय, तो वे विश्वास करेंगे, अन्यथा वह प्रामाणिक नहीं माना जायगा।’ मोल का कहना था कि सभी लोगों के सामने मैंने प्रण किया है कि, भगवान् से शादी करके ही लौटूंगी। विना विवाह के वापस गाँव में कैसे जाऊँ? उनके अनुरोध से भगवान् भक्तिन के गाल पर काला तिल लगाकर अन्तर्धान हो जाते हैं। अदृश्य होने के पहले वे वचन देते हैं कि अमुक समय तुम्हारे गाँव में आकर तुम्हारे साथ विवाह करूँगा।

अबतक मोल एक अबोध हठीली लड़की मात्र समझी जाती थीं। इनमें नारी के लक्षण नाम-मात्र के भी नहीं थे। अब इनमें स्त्रीत्व जाग उठा और ये एक पूर्ण नारी बनकर गाँव में लौटीं। इनमें विशेष परिवर्तन देख गाँववाले भी इनपर विश्वास करने लगे। कुछ समय के उपरान्त इनका अपने आराध्य के साथ विवाह भी हो गया। इस तरह मोलाम्बा ने दृढ़ संकल्प और साधना के द्वारा अपने आराध्य को प्राप्त कर लिया।

रामायण की रचना में मोलाम्बा के जीवन में अनेक ऐसी अद्भुत घटनाओं का समावेश किया गया है, जिन पर विश्वास करना कठिन मालूम पड़ता है। उनकी सम्पूर्ण जीवनी आज तक प्राप्त ही नहीं हुई। यत्र-तत्र जो घटनाएँ वर्णित हैं, उनके आधार पर किसी हद तक हम इनका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। यही बात इनकी काव्य-रचना के सम्बन्ध में भी पैदा होती है। परन्तु इतना निश्चित है कि मोल ने तेलुगु में रामायण की रचना की है। इस बात का उल्लेख इनके समकालीन कवियों ने ही नहीं, बल्कि बाद के कवियों ने भी किया है।

राजा कृष्णदेव ने भी इनकी रचना की प्रशंसा की है। दरबारी कवि तेनालि रामकृष्ण इनके समकालीन कवि थे और इन दोनों में अच्छा परिचय था, जैसा परिचय हिन्दी में तुलसी और मीरा में कहा गया है। लेकिन कवि रामकृष्ण मोल्ल की कविता स्वयं सुन भी चुके थे।

मोल्लाम्बा की रामायण-रचना के सम्बन्ध में एक दन्त-कथा प्रचलित है। एक बार कवि रामकृष्ण अपनी शिष्या को देखने गोपवरम् आये। उस गाँव के पण्डित रामाचारी ने दूसरों की बातों में आकर कवि रामकृष्ण को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, रामकृष्ण ने रामाचारी को पराजित किया और घोषणा की कि किसी में सामर्थ्य हो, तो शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हो। यह कवयित्री मोल्लाम्बा को असह्य मालूम हुई और इसे अपने गाँव के लिए मोल्ल ने अपमान की बात समझी। वह शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गई। उनकी कविता पर रामकृष्ण कवि अत्यन्त मुग्ध हुए। प्रसङ्गवश, रामकृष्ण ने पूछा, 'मैंने तो काव्य भी लिखे हैं, आपने भी लिखे हैं क्या?'

मोल्ल ने जवाब दिया—'वह समय अभी नहीं आया, परन्तु लिखने की शक्ति रखती हूँ।'

रामकृष्ण ने कहा—'तब राजा कृष्णदेवराय पर काव्य रचिए।'

मोल्लाम्बा ने उत्तर दिया—'मैं मनुष्य-मात्र को अपने काव्य का नायक बनाना पसन्द नहीं करूँगी। मैं अपने इष्टदेव रामचन्द्र पर ही काव्य लिखूँगी।'

कवि रामकृष्ण ने कहा—'तब सात वर्ष का समय देता हूँ। रामायण पूरी कर दीजिए।'

कवयित्री ने कहा—'सात दिन का समय दीजिए।' उस समय यह भी शर्त रखी गई कि यदि मोल्लाम्बा सात दिन के भीतर काव्य-रचना पूरी नहीं करेगी, तो शूली पर चढ़ा दी जायगी। लोग आश्चर्य-चकित थे कि क्या होनेवाला है।

रचना-काल में मोल्लाम्बा प्रति-दिन सवेरे उठती। स्नान कर ११२ निश्चित समय पर मण्डप में बैठ जाती और केशों के सूखने के पहले ही

एक काण्ड पूरा कर देतीं। इस प्रकार सात दिनों के भीतर ही रामायण के सातों काण्डों को समाप्त कर अपनी प्रतिभा का इन्होंने परिचय दिया और प्रतिज्ञा की रक्षा की।

मोल्लाम्बा की कविता क्या है, हृदय का निचोड़ है। सीधी सरल भाषा में भक्त-हृदय के उद्गार रामायण के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। यह तेलुगु-साहित्य में 'मोल्ल-रामायण' नाम से विख्यात है। भाषा, शैली और काव्य-लक्षणों की दृष्टि से भी तेलुगु-वाङ्मय में इस काव्य को अच्छा स्थान प्राप्त है।

कवयत्री को जीवन-भर यातनाएँ भोगनी पड़ीं। रामायण-रचना के समय में भी इनके प्रण को भङ्ग करने के अभिप्राय से इनके विरोधियों ने मोल्लाम्बा के पिता की हत्या इनके फूफा से करा डाली। वे ज्यों ही इनके पिता का वध कर आगे बढ़े, त्यों ही एक काले साँप ने इनका काम तमाम कर दिया। इस प्रकार अल्प आयु में ही अनेक कड़ुएँ घूट पीकर भी ये अपने पथ से डिगी नहीं, बल्कि कठिनाइयों ने इन्हें और भी चमका दिया।

हिन्दी-साहित्य में मीरा का जो स्थान है, वही तेलुगु-साहित्य में मोल्लाम्बा को प्राप्त है। दोनों की भक्ति एक प्रकार की है। दोनों वैष्णव भक्तिन हैं, परन्तु जहाँ मीरा ने कृष्ण को आराध्य देव माना, वहाँ मोल्लाम्बा ने राम को। मीरा राज-परिवार में पैदा हुईं और पति की मृत्यु के उपरान्त भगवान की ओर प्रवृत्त हुईं। इधर गाँव के दूषित वातावरण ने मोल्लाम्बा को वैरागिन बनाया। यों तो, इनके पिता द्वारा इन्हें विरासत में ही भक्ति प्राप्त थी।

मोल्लाम्बा का जन्म गरीब-परिवार में हुआ था, फिर भी इन्हें भोजन-वस्त्र की कमी नहीं थी, परन्तु उच्च वर्णवालों के द्वारा इन्हें अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ीं। मीरा साधु-सन्तों की टोली में कृष्ण भगवान् के भजन में तन्मय थीं, तो मोल्लाम्बा एकान्त में साधना करती रहीं। मोल्लाम्बा सगुणोपासना से निगुणोपासना की ओर प्रवृत्त हुईं। लोक-निन्दा और लाज का खयाल

तो दोनों ने छोड़ दिया था। इससे दोनों कहीं ऊपर उठ चुकी थीं। दोनों को विरोधियों के कारण कष्ट भेलने पड़े। दोनों कवयत्री हैं। मीरा ने जहाँ पद गाये हैं, वहाँ मोलाम्बा ने अच्छी कविता की है। काव्य-रचना करना मामूली बात नहीं थी। वह भी असामान्य कविता, जिसकी राजा कृष्णदेवराय, कवि रामकृष्ण-जैसे प्रकाण्ड पण्डितों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

दोनों की साधना पक्की थी। मीरा ने अपने पति के देहान्त के बाद भगवान् (गिरिधर गोपाल) को अपना पति माना। परन्तु मोलाम्बा का लक्ष्य शुरू से ही भगवान् थे। अन्त में, यह उन्हें प्राप्त करके ही चिन्ताओं से मुक्त हुई। इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ मोलाम्बा बचपन में विद्रोही स्वभाव को लेकर सामने आती हैं, और बाद में बिल्कुल बदल जाती हैं, वहाँ मीरा सदा एकरस दिखाई पड़ती हैं।



वाग्गेयकार क्षेत्रय्या

तेलुगु भारत की ग्यारह प्रधान प्रादेशिक भाषाओं में प्रमुख है। पिछले दिनों इसी तेलुगु-भाषाभाषी-क्षेत्र का एक भाग पृथक् आन्ध्र-प्रदेश बना है। इसी तेलुगु-भाषा के साहित्य और सङ्गीत की रस-धारा प्रवाहित करनेवाले वाग्गेयकार क्षेत्रय्या और उनके तेलुगु-साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राचीन काल से भारत सङ्गीत और साहित्य का पीठ रहा है। इस पावन भूमि में अनेक सङ्गीत और साहित्य-शास्त्रों का सर्जन हुआ एवं विश्व के कोने-कोने में इनका प्रचार हुआ। यही कारण है कि आज भारत सङ्गीत, साहित्य और दर्शन-शास्त्र में विश्व का गुरु माना जा रहा है। संसार के सब से प्राचीनतम ग्रन्थों का प्रणयन यहीं हुआ। उनमें चार वेद मुख्य हैं, इन चार वेदों में सामवेद सङ्गीत-शास्त्र का भाण्डार है। इसी सामगान से सप्तस्वर आदि का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार, नियमों से बद्ध सङ्गीत 'मार्ग-सङ्गीत' कहलाया। इससे कुछ भिन्न प्रकार का सङ्गीत, जो नियम-बद्ध नहीं था, गाँवों में प्रचलित था, वह 'देशी सङ्गीत' नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु काल-प्रवाह में इस देशी सङ्गीत का संस्करण हुआ और लक्षणों से पूर्ण होकर 'शास्त्र-सङ्गीत' कहलाया। इसी का विकसित और परिवर्तित रूप आज का 'कर्णाटक-सङ्गीत' है।

इस सङ्गीत को पाल-पोसकर, रूप-रेखाओं से ठीक-ठाककर इसे उच्च आसन पर बिठाने का श्रेय 'भक्तत्रय' को दिया जाता है। ११५

ये भक्तत्रय अन्नमय्या, त्यागय्या और क्षेत्रय्या हैं। इन भक्तत्रय ने आन्ध्र-जाति को अपने भक्ति-रस से अप्लावित ही नहीं किया, बल्कि अपनी अमूल्य पद-सम्पत्ति से आन्ध्र-देश का मस्तक भी ऊँचा उठाया। इन पर आज भी आन्ध्र-देश गर्व करता है। अन्नमय्या और त्यागय्या ने कीर्तन, सङ्कीर्तन, पद आदि लिखकर अपनी भक्ति के आवेश में लोगों को मुग्ध किया, तो क्षेत्रय्या ने शृङ्गाररस-सागर के अन्तराल में ले जाकर भक्ति-भाव में भुला दिया। इन भक्तों के पदों में आन्ध्र-जाति के उच्छ्वास-निःश्वास, सुख-दुःख एवं पीढ़ियों तथा युगों का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है। इस प्रकार का पद-साहित्य प्राचीन काल से आज तक का सुरक्षित रखने का प्रयत्न हुआ है। इसमें सङ्गीत और साहित्य का सम्मेलन हुआ है। अर्थ-मैत्री के साथ एक ही भावना में केन्द्रीभूत होकर ये स्वात्मककाव्य बने हुए हैं। इस पद-साहित्य को पण्डितों की मान्यता प्राप्त नहीं हुई, तो भी जनता का आदर पाकर यह खूब फलता-फूलता आया है। इस पद-साहित्य को अन्नमय्या ने जीवन-दान किया, तो क्षेत्रय्या ने उसे अपनी कृतियों से पराकाष्ठा तक पहुँचाया। यहाँ हम क्षेत्रय्या के बारे में विचार करेंगे।

क्षेत्रय्या का जन्म कृष्णा जिला के मोव्व नामक गाँव में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में विद्वानों का बड़ा मतभेद है। पर अबतक के निर्णय के अनुसार इनका जीवन-काल १६००-१६६० ई० प्रामाणिक माना गया है। इसके लिए अनेक प्रमाण और आधार भी हैं। बचपन में इन्होंने तेलुगु और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। तदनन्तर अपने गाँव के समीप स्थित 'कूचिपूड़ी' में सङ्गीत, नृत्य और अभिनय का अभ्यास किया। यह कूचिपूड़ी नृत्य और अभिनय-कला का केन्द्र था। इसकी कीर्ति सारे भारत में ही नहीं, बल्कि विदेशों तक में फैल चुकी थी। संक्षेप में यहाँ उसका परिचय देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

मुरली बजाते हुए एक तपस्वी जा रहे थे। उस मार्ग ने तपस्वी को एक ग्राम के सरहद्द-प्रदेश में पहुँचा दिया। वहाँ एक अत्यन्त विशाल मैदान तथा उससे सटकर घने वृक्षों के मध्य में एक छोटा-सा सुन्दर अग्रहार सुवर्ण-मन्दिरों के गोपुरों से नेत्र-पर्व बन रहा था। उस रमणीय दृश्य को देख आनन्द-विभोर होकर तपस्वी मुग्ध खड़े रहे। उसी समय उस घने वृक्षों के बीच से मृदु-मधुर राग-ध्वनि गूँज उठी। उस गान-माधुर्य का पान करते योगी निश्चेष्ट खड़े रहे। वह गान भी उनके समीप होने लगा। उस धुँधले प्रकाश में एक दस वर्ष का बालक धीरे-धीरे पग बढ़ाता उस योगी के निकट पहुँचा और वह भक्ति के साथ हाथ जोड़ 'स्वामिन् ! पधारिए' कहकर तपस्वी का स्वागत-किया। तबतक उस बालक के मुग्ध स्वरूप का आनन्द-आश्चर्य के साथ अवलोकन करनेवाले योगी को उस बालक की भक्तिपूर्ण वाणी में वीणा की मधुर ध्वनि सुनाई दी। और उसके नम्र शरीर में सुन्दर एवं मधुर अभिनय के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। आज तक अपने आशय की सिद्धि के लिए वह तपस्वी अथक परिश्रम करते रहे। आज उनकी आशा-ज्योति उस बालक के रूप में प्रत्यक्ष हुई। स्वेप्सित कला-प्रचारक इस प्रान्त में है, यह सोचकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उस बालक के साथ पास में स्थित गाँव में प्रवेश कर तपस्वी ने वहीं अपना स्थिर निवास बना लिया। वे ही महापुरुष विश्वख्याति-प्राप्त आन्ध्र-नृत्य-सम्प्रदाय के आदि मानव सिद्धेन्द्र योगी थे। वह बालक ही आन्ध्र की नृत्य कला को प्रचार में लाया। वह ग्राम ही दक्षिणापथ में भरत-शास्त्र की तरह प्रामाणिकता को प्राप्त नृत्यकला-प्रचारार्थ आदर्श कला तपस्वियों को अर्पण करनेवाला कलातीर्थ 'कूचिपूड़ी है'। इस कलातीर्थ ने केवल दक्षिणापथ में ही नहीं, बल्कि उत्तर तथा अन्य देशों में भी अपने नृत्य तथा सङ्गीत-कला के प्रचारकों को अर्पित किया है।

इस कूचिपूड़ी में ही क्षेत्रय्या ने संगीत, नृत्य आदि कलाओं का अभ्यास किया। ये तेलुगु, संस्कृत, अलङ्कार-शास्त्र, अभिनय आदि के ११७

भी पण्डित हुए। इन्होंने अपनी जवानी में सारे दक्षिण का भ्रमण किया। दक्षिण के प्रसिद्ध तीर्थस्थान मथुरा, तंजाउर, चिदम्बरम्, श्रीरङ्गम्, मन्नारगुडी, काञ्चीपुरम् और तिरुवेल्लूर गये थे। ये बाल्य और कौमार दशा में 'मूव वरदय्या' नाम से प्रसिद्ध थे। इनका असली नाम वरदय्या था। इनके माता-पिता ने यही नामकरण किया था। इनका गाँव मोव्व था, इस कारण ये 'मूव-वरदय्या' कहलाये। परन्तु, इन्होंने उस समय के प्रायः कई मुख्य तीर्थस्थानों का भ्रमण किया। तीर्थस्थान को तेलुगु में पुण्यक्षेत्र भी कहते हैं। सभी क्षेत्रों के ज्ञाता होने के कारण इनका नाम क्षेत्रय्या, क्षेत्रज्ञय्या पड़ा है।

क्षेत्रय्या भ्रमण के लिए निकलने के पूर्व ही सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुके थे। और, वह एक पहुँचे हुए संगीतज्ञ तथा विद्वान् माने जाते थे। अपने भ्रमण-काल में ये तंजाउर गये, तो वहाँ के राजा श्रीरघुनाथ नायक से इनका परिचय हुआ। परन्तु इसके बाद विजय-राघव नायक ने, सन् १६३३-१६७३ ई० में, विद्वानों और पण्डितों का सम्मान किया। इनके दरबार में सभी प्रकार की कलाओं के पण्डित आदर के साथ निमन्त्रित किये जाते थे। उस समय तंजाउर के राजदरबार में ललित-कलाओं के लिए नई शैली का विकास हो रहा था। रघुनायक के मन्त्री श्रीगोविन्द-दीक्षितल्लु बड़े विद्वान् थे। उन्होंने 'संगीत-मुधा' रचकर रघुनाथ नायक को समर्पित किया। आज की वीणा उसी समय क्रम में बिठाई गई है। उनके दरबार में संगीत-शास्त्र नृत्य-कला, देवदासी-मंदिर-नृत्यकला आदि कलाएँ उच्च दशा में थीं। गायक, नर्तक, नट, नटी, कवि आदि सबके लिए राजादर प्राप्त था। उस वातावरण में रहकर क्षेत्रय्या अपनी कला की उन्नति करके राजादर प्राप्त कर चुके थे। राजा भी स्वयं कवि, संगीतज्ञ तथा अत्यन्त कलाप्रेमी थे। क्षेत्रय्या ने गान-नृत्यकला तथा शास्त्रों के मर्मों को पहचान कर अपनी प्रतिभा एवं कल्पना के बल पर अनेक पद रचे, ११८ जिनमें इनकी विद्वत्ता एवं कला प्रतिबिम्बित है। क्षेत्रय्या को अपनी

कला की वृद्धि करने की आवश्यकता की पृष्ठभूमि तंजाउर में पहले से ही तैयार थी । वहाँ गान-नृत्यकला को देख और सुनकर उनकी सुषुप्त प्रतिभा जागरित हुई। और, उनकी भावना एवं अनुभव का समन्वयित रूप अनेक पदों में व्यक्त हुआ ।

क्षेत्रय्या की प्रतिभा एवं विद्वत्ता से तंजाउर के राजा विजयराघव नायक बहुत प्रभावित हुए, और अनेक पुरस्कारों से इनका सत्कार किया । यह देखकर दरबार के अन्य पण्डितों में क्षेत्रय्या के प्रति ईर्ष्या पैदा हुई । वे मन-ही-मन क्षेत्रय्या से जलने लगे । एक दिन राजा से इन विद्वानों ने शिकायत की—‘क्षेत्रय्या में विद्वत्ता कुछ भी नहीं है । वह हमेशा भगवान् को ‘एरा-पोरा’ कहकर गाया करता है । ऐसे क्षेत्रय्या का इतने अधिक पुरस्कारों से सम्मान करना हमें अच्छा नहीं लगता ।’ उनकी बात सुनकर राजा चुप रहे । क्षेत्रय्या से राजा ने सारी बातें कह दीं, तो क्षेत्रय्या ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—‘उनका कहना ठीक है, पर मेरी विनती है कि मैं एक पद बताऊँगा । उनमें चौथा चरण उन्हें पूरा करना होगा ।’ यह कहकर क्षेत्रय्या ने कांभोजी राग में ही चरण गाकर तीसरा चरण इस प्रकार रखा—‘भामरो ! शकुनमु लङ्गिति, मुव्व गोपालुडु बच्चुननि कान्मिच्चि नाथुल कलमु चेलुल जूचि करगि चिन्त नोंदिति’ (हे सखि, मैंने शकुन पूछा कि मेरे प्राणनाथ कब वापस लौटेंगे, पर मेरी जैसी असंख्य सखियों के अपने नाथों से मिलने की प्रतीक्षा देख मेरा हृदय द्रवीभूत हुआ ।) ।

तीसरे चरण में उपयुक्त भाव भरकर चौथी पंक्ति को खाली छोड़ दिया और वे रामेश्वर की यात्रा के लिए चले गये । दूसरे दिन जब दरबार लगा, तब राजा ने पण्डितों को सम्बोधित कर कहा—‘क्षेत्रय्या ने एक पद रचा है, उसमें चौथा चरण पूरा करने के लिए आप लोगों को छोड़ दिया है । उनके यात्रा से लौटने के पहले ही आप लोगों को चौथे चरण की पूर्ति करनी होगी’ । दरबार के कवियों ने स्वीकार तो कर लिया, और उनके वापस आने तक कवियों ने शक्ति-भर प्रयत्न भी किया, पर वे उसकी पूर्ति नहीं कर सके । वे क्षेत्रय्या की विद्वत्ता को

पहचान गये । उनके आते ही उनके पैरों पर पड़कर सबने क्षमा माँगी और चौथे चरण की पूर्ति पढ़ने की प्रार्थना की तो क्षेत्रय्या के मुँह से अनायास ही निकल गया—‘क्षेत्रय्या ! राम ! राम ! ई मेनिती बानि मोमु चूड वलेना ? मोदटि पोद्दे चालु ।’ (क्षेत्रय्या ! राम ! राम ! इस शरीर से उनका मुँह कैसे देखूँ ? प्रथम मिलन ही काफी है) । पद-पूर्ति देखकर पण्डित लोग बहुत प्रसन्न हुए और मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा की कि तुम साक्षात् गोपाल ही हो । तदनन्तर राजा के पास जाकर सब ने क्षेत्रय्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की । राज-दरबार में क्षेत्रय्या का सम्मान बढ़ा । वहीं इन्होंने अनेक पद रचे हैं । इनके आराध्य देव श्रीकृष्ण थे ।

क्षेत्रय्या स्वभाव से ही भक्त थे । बचपन में ही ये एक महान् योगी द्वारा ‘गोपाल-मन्त्र’ से दीक्षित हुए । अपने गाँव के ‘गोपाल-आलय’ में जाकर कृष्ण की उपासना किया करते थे । इस प्रकार मन्त्रावृत्ति करते बहुत समय बीत गया, तो एक दिन अपने भक्त की भक्ति पर प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने क्षेत्रय्या को दर्शन दिये । अपने इष्टदेव के दर्शन से विह्वल होकर क्षेत्रय्या के मुँह से अनायास यह पद निकल गया—

‘श्रीपति सुतु बारिकि ने नोपलेक निनु वेञ्जिते गोपाला, मुव्व गोपाला ।’ (हे गोपाल मैं कामदेव के बाणों से व्याकुल होकर तुम्हारी शरण में आया ।)

यह पद भक्ति से ओत-प्रोत क्षेत्रय्या के मुँह से वाग्-नोय रूप में बह चला । उनकी वाणी खुल गई । सरस्वती की कृपा उन्हें प्राप्त थी । बस, पदों का प्रवाह होने लगा । क्षेत्रय्या ने भगवद्भक्ति को आधार मानकर पद-रचना की है । इनके सभी पदों में ‘गोपाल’ यथा ‘मुव्व गोपाल’ नामक मुहर रहती है । इसलिए इनके पद तेलुगु-साहित्य में ‘मुव्वगोपाल-पद’ नाम से प्रसिद्ध हैं ।

भक्तों ने अपने उपास्यदेव की उपासना अनेक प्रकार से की है । भक्ति-पद्धति चाहे किसी कोटि की क्यों न हो, वह नवधाभक्ति के अन्तर्गत आ ही जायगी । भक्तों ने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन,

वन्दन, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन के द्वारा अपनी भक्ति प्रकट की। क्षेत्रय्या की भक्ति सख्य-भाव की थी। इन्होंने अपने आराध्य देव को नायक मानकर और अपनी आत्मा को नायिका समझकर गोपाल की आराधना की है। इस सख्य-भाव के अन्दर पत्नी-भाव निहित है। पति-पत्नी के बीच का जो प्रेम है, वह माधुर्य-भावना से ओत-प्रोत है। हमारे पूर्वजों एवं आचार्यों ने माधुर्य-भाव को ही उत्तम माना है। यही कारण है कि शृङ्गार-रस रसरज कहलाया है। क्षेत्रय्या के पदों में शृङ्गार-रस की प्रधानता है। साथ-साथ इनके पद नायक-नायिका के लक्षणों से समृद्ध होकर अर्थ-पुष्टि तथा रसों के अनुकूल रागों से परिपूर्ण हैं। इनकी कृतियों में गीत और वृत्ताभिनय का समन्वयित रूप है। भक्ति के व्यक्त करने में जो मतभेद हुए, उन्हीं के आधार पर सङ्गीत-विद्या में भी विभिन्न प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हुईं। कुछ लोग केवल सङ्गीत से ही सन्तुष्ट हुए। पर, क्षेत्रय्या ने केवल सङ्गीत में पूर्ण भक्ति नहीं देखी। इन्होंने जयदेव, नारायणतीर्थ आदि की भक्ति की रीति को उत्तम माना। ग्रान्ध-देश ('कूचिपूडि', तमिलनाडु) के 'मेरुतूर' गाँव में भागवत, नृत्य और नाटक-सम्प्रदायों का प्रणयन हुआ है। भक्त पुरन्दरदास तथा उनके अनुयायी उपर्युक्त सिद्धान्तों में थोड़ा-सा परिवर्तन करके भजन गाते और नृत्य करते हैं। इनके बाद त्यागराज आदि भक्तिपूर्ण कीर्तनों को गाने में ही तल्लीन रहे। ये गीतकार केवल भक्त ही नहीं थे, बल्कि सङ्गीत-शास्त्र तथा गान-विद्या के भी पारङ्गत थे। उनमें भावना की स्वतन्त्रता अधिक थी। इसलिए, सब ने अपने मनोनुकूल मार्गों में रचनाएँ करके अपने समय के सङ्गीत-सम्प्रदायों की श्रीवृद्धि के साथ उन्हें परिपूर्ण बनाने में हाथ बँटाया। परिणामस्वरूप, एक पूर्णत्व-प्राप्त सङ्गीत-सम्प्रदाय का जन्म हुआ। तदनुसार यह माना गया है कि भक्ति प्रकट करने के लिए आवश्यक गान-कला को अपने समस्त कला-धर्मों के साथ विकसित होना चाहिए, वरना देवता प्रसन्न नहीं होगा।

क्षेत्रय्या ने अपनी भक्ति को व्यक्त करने के लिए शृङ्गार-रस-भाव-पद्धति का अनुसरण किया। इनकी रचना-पद्धति के आधार

परं ही इनके शृङ्गार-रस-प्रधान भक्ति-पूर्ण गीत 'पद' कहलाये। ये अपने पदों के प्रत्येक भाग-विभाग में निर्दिष्ट रस-भावांशों को मिलाकर, और पद-रचना में एक नये पथ का मार्गदर्शक होकर वाग्गेयकार बन गये। शृङ्गार-रस के वर्णन में ये कहीं-कहीं सीमा पार कर चुके हैं, इसलिए अनेक लोग आज भी क्षेत्रय्या को अश्लील साहित्य के प्रचारक मानते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। ये गोपाल नाम से प्रसिद्ध परमात्मा के संसर्ग के इच्छुक वैष्णव भक्त हैं।

प्राचीन काल में हमारे देश में शृङ्गार-रस को जीवन देनेवाले काम-प्रधान प्रेम को अपवित्र नहीं माना गया, बल्कि निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति-मार्ग को साधन जानकर, चतुर्विध आश्रमों में दूसरे गृहस्थाश्रम के लिए, इस बौद्धिक प्रेम को आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य माना गया है। इस काम-प्रधान प्रेम का, उसके गुणों के आधार पर, विभिन्न वर्गों में विभाजन किया गया है। मनुष्यों, उनकी मनोभावनाओं, उनकी प्रेमावस्थाओं, उनकी प्रवृत्तियों और प्रकृतियों का शास्त्रीय दृष्टि से निर्वचन किया गया। अलङ्कार-शास्त्रों में नायक-भेदों तथा लक्षणों का सविस्तर निरूपण किया गया है।

नाट्य और गान-कलाओं में भी, साधारण काम-प्रधान प्रेम से उसकी कुदृष्टि को हटाकर, आत्मा और परमात्मा का पवित्र प्रेम-सम्बन्ध मिलाया गया। भक्तों ने अपने को आत्मा (नायिका) और भगवान् को परमात्मा (नायक) मानकर पदों की रचनाएँ की हैं। यही कारण है कि गीतों के गाने या अभिनय करने में नायक-नायिका के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। कृष्ण की रास-लीला में भाव-लक्षण-निरूपण के लिए अनेक सन्दर्भ हैं। इस सम्प्रदाय को आधार मानकर कृष्ण के प्रति भक्ति और उपासना आदि का गीत और नृत्य के द्वारा व्यक्त होने का मार्ग खुल गया। क्षेत्रय्या ने इसी सम्प्रदाय का अनुसरण किया। जहाँ पहले आत्मा और परमात्मा के संयोग में जो भक्ति देखी जाती थी, वही बाद में स्त्री और पुरुष के संयोग के रूप में परिणत हुआ। फलतः, भक्तिरस-प्रधान गीतों के स्थान में केवल शृङ्गार-रस-प्रधान पदों की रचना हुई। देवदासी लोग

इन गीतों को गाकर अभिनय करते समय अपनी भोग-लालसा को व्यक्त करती थीं, उनका प्रेम काम-प्रधान सिद्ध हुआ। नर्तकों के प्रति मर्यादा कम होने लगी। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता को प्राप्त हुआ। पर, प्राचीन काल में नृत्यकला पवित्र मानी जाती थी। लास्य के लिए पार्वती, ताण्डव-नृत्य के लिए शिवजी प्रसिद्ध हैं ही। नृत्य के गुरु नटराज हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थ रामायण, महाभारत और भागवत में नृत्य को उत्तम कला माना गया है। भारत-भूमि ने अपने समय तक प्रचलित समस्त नाट्य-लक्षणों का संग्रह 'भरत-शास्त्र' नाम से किया है। यह नृत्य-कला का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

नृत्य-कला का प्राचीन समय में इतना आदर था कि प्रत्येक राजा अपने दरबार में नट-नटियों को आश्रय देता था। सुनते हैं, सुर-राजा देवेन्द्र के दरबार में रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराएँ नृत्य किया करती थीं। वैसे ही मन्दिरों में प्रतिदिन भगवान् के सामने नृत्य करने की परिपाटी प्रचलित हो गई थी। मन्दिरों में नृत्य करने-वाली स्त्रियाँ अपने जीवन को भगवान् के लिए समर्पित कर उनकी सेवा में लगी रहती थीं। ये 'देवदासी' नाम से प्रसिद्ध थीं और भगवान् को ही अपना पति मानकर भजन, नृत्य, गायन आदि के द्वारा उनकी आराधना में तल्लीन रहती थीं।

क्षेत्रग्या के गाँव में भी गोपाल-मन्दिर में देवदासियाँ रहती थीं। वे भक्त और नृत्य-कला में विशारदा थीं। उन देवदासियों के उपयोगार्थ इन्होंने अपने पद रचे थे। ये भी पूजन, भजन और नृत्य के द्वारा अपने इष्टदेव की उपासना करती देवदासियों के लिए गुरु-नुत्त्य और मार्गदर्शक रहे हैं।

क्षेत्रग्या तेलुगु और संस्कृत के पारङ्गत थे। इनकी विद्वत्ता हमें इनके पदों में देखने को मिलती है। पर, क्षेत्रग्या ने अधिक संस्कृत-शब्दों का प्रयोग न करके शुद्ध तेलुगु-भाषा में अपने पदों की रचना की है। व्यावहारिक भाषा का प्रभाव भी पड़ा है। इन्होंने अपने पदों की रचना केवल शिक्षित लोगों के लिए ही नहीं की,

उन्होंने साधारण जनता को भी दृष्टि में रखकर रचना की है। देशी तेलुगु में शृङ्गार-रस-प्रधान पदों को लिखा है। ये रसिक थे, अतः रसवाङ्मय के स्रष्टा हो सके हैं। इनके पदों को तेलुगु-साहित्य के भाण्डार के लिए अमूल्य हीरे के टुकड़े कह सकते हैं। इन्होंने अपने पद की रचना करके रसवाहिनी में तेलुगुभाषी जनता को डुबोया।

स्थूल दृष्टि से देखा जाय, तो ये पद अश्लील दिखाई देंगे और हमें बरबस मृथिलकोकिल विद्यापति का स्मरण ताजा हो उठेगा। पर इन पदों में माधुर्य-भाव के साथ आत्म-समर्पण छिपा है। एक भक्त का भगवान् के प्रति निवेदन-मात्र इन गीतों में व्यक्त हुआ है। रसानुभूतियाँ अधिक हैं।

क्षेत्रय्या के पद शान्त समय में गाने योग्य हैं। केवल पढ़ने से ही पाठक उसके रस का पान नहीं कर सकेगा। केवल सुनने से ही उसके सङ्गीत-माधुर्य का अनुभव नहीं किया जा सकता। वे अधिकतर अभिनय के योग्य हैं। इसलिए, सङ्गीत-शास्त्र-पारङ्गत, अभिनय के माध्यम से, इन पदों का प्रदर्शन देखने पर ही, उनकी रसानुभूति को पहचान सकते हैं।

क्षेत्रय्या के पदों का सौन्दर्य तथा मूल्य का निर्धारण करना कठिन है। वे अधिक अनुभव के द्वारा आनन्द प्राप्त करने योग्य हैं। गूँगे के गुड़ के समान हैं। इस शताब्दी के द्वितीय पाद से जयदेव के पदों और क्षेत्रय्या के पदों को नाट्य-प्रदर्शन में नाट्य का मुख्य आधार माना जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से लोगों में भरत-नाट्य के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है। यही अधिक जनों का मनोरञ्जन बना हुआ है। क्षेत्रय्या के पदों में अभिनय के लिए अधिक गुञ्जायश है, यही इनकी विशेषता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इनके किन्हीं २२ पदों का अभिनय सीख लिया जाय, तो नर्तक कोई भी किसी भी प्रकार गीत गाये, तो उनके अनुकूल अभिनय कर सकता है। इन्होंने लगभग ५००० पद बनाये हैं, पर उनमें पाँच-छह सौ पद ही अबतक उपलब्ध हुए हैं। तंजावर, काञ्चीवरम् तथा मुव्व

में इन्होंने अनेक पद रचे हैं। मुव्व गोपाल, काञ्चीवरम् ये दोनों इनके आराध्य देव हैं। इनकी कविता का आवेश उदात्त गुण से पूर्ण है। कविता-चमस्कार, पद-लालित्य, भाव-गाम्भीर्य, रचना-चातुर्य, सुकुमारता, मृदु मधुर भाषा क्षेत्रय्या के अच्छे साहित्यिक होने के प्रबल निदर्शन हैं। इनका लोकज्ञान अनुभव से पूर्ण तथा व्यापक था। अनेक कहावतों और लोकोक्तियों से इनके पद साहित्य में उत्तम स्थान प्राप्त कर चुके हैं। ये अलङ्कार-शास्त्र, सङ्गीत-शास्त्र भरत-शास्त्र आदि के अच्छे ज्ञाता थे। इनका इन्होंने पूर्ण अभ्यास किया था। इनके प्रयोग के लिए अनेक शब्द तेलुगु के शब्द-कोशों में क्षेत्रय्या के प्रयोगों के साथ दिखाये गये हैं। 'श्रीसूर्यरायान्ध्र-निघण्टुबु' इसका अच्छा उदाहरण है। श्रीबहुजनपल्ली सीतारामाचामुलुजी ने भी अपने 'शब्द-रत्नाकार-कोश' में अनेक शब्दों के प्रयोग क्षेत्रय्या के पदों से दिये हैं। इससे और क्या प्रामाणिकता चाहिए ?

हाँ, इधर कुछ दिनों से तेलुगु-पत्र-पत्रिकाओं में क्षेत्रय्या को लेकर जो वाद-विवाद हुआ है, उसका उल्लेख करना असङ्गत न होगा। कुछ आलोचकों ने क्षेत्रय्या को वेश्या-जाति के उपयोगार्थ अभिनय-पूर्ण गीत लिखनेवाला कवि और प्रचारक सिद्ध किया, पर आलोचक इस बात को बिलकुल भूल गये हैं कि क्षेत्रय्या किस धरातल से उठे थे। उस समय के वातावरण, देश-काल, स्थिति और पृष्ठभूमि का विचार न करके क्षेत्रय्या के विरुद्ध कुछ लिखना उनके प्रति अन्याय करना ही होगा। क्षेत्रय्या ने देवदासियों के उपयोगार्थ और अर्चन करने के निमित्त कुछ पद बनाये थे। उसमें भी उनका प्रयत्न अधिक नहीं था। वे भक्त और कविहृदय थे। भावनाओं एवं कल्पनाओं का अभाव उनके हृदय में नहीं था। भक्ति के आवेश में भक्त का हृदय भगवान् में विलीन होने या उनके सम्पर्क में जाने के लिए छटपटाया होगा। इस तड़पन की अवस्था में उनके हृदय-गह्वर से जो पद बहे, वे अभिनय-योग्य भी बन गये। कारण, भक्त भजन करते थे और वे नृत्य-कला में भी पारङ्गत होते थे। उस समय

मन्दिरों में देवदासी-प्रथा प्रचलित थी। देवदासियाँ नृत्य और भजन के साथ भगवान् की आराधना करती थीं। क्षेत्रय्या नृत्य-कला में भी पारङ्गत थे। अतः नृत्य करते, भजन गाते, भगवान् के ध्यान में उनके मुँह से जो कुछ भी निकला, वह सङ्गीत, साहित्य आदि लक्षणों के साथ अभिनय-योग्य भी बन गया। इसलिए, अभिनय की अनुकूलता इनके पदों में पाकर देवदासियों ने पदों को अपनाया और गाया। वह दोष क्षेत्रय्या का नहीं था। उस समय देवदासियाँ पवित्र थीं। बाद को वे ही वेश्या-जाति के रूप में परिणत हुईं। तो भी, वे इन पदों को गाया करती थीं। इसलिए, मध्य काल में नृत्य-कला दूषित और त्याज्य मानी गई। फिर, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्ति-निकेतन में नृत्य-कला के शिक्षण का उचित प्रबन्ध ही नहीं किया, बल्कि नृत्य और नाटक का प्रदर्शन भी कराया। मन्दिरों में देवदासी-प्रथा का निषेध किया गया। इस प्रकार, फिर नृत्य-कला वेश्या-जाति की वृत्ति से मुक्त होकर परिवार की वस्तु बनी। किसी भी कला की आराधना करना गलत नहीं है, यह भावना फिर सर्वसाधारण लोगों के हृदय में जगी।

क्षेत्रय्या के पदों में राग, ताल, लय ही नहीं, बल्कि नायक, नायिका के लक्षण भी हैं। यहाँ हम उदाहरणार्थ उनका एक पद दे रहे हैं। नायक नायिका से अनुमति लेकर दूसरी जगह जा रहा है। नायिका विदाई देती, अपने मुग्ध प्रणय को व्यक्त कर रही है —

अट्टे गुडेवु सुमी-ना प्राणनाथ
अट्टे अन्दुड किन्दु वच्चेदननि
यान बेट्टितिवि सुमि, ना प्राणनाथ,
इतलो नीविडकु रांकुटे
कन्नरीरु कावेरी कावुल सुकी
यिन्तित नी केम्मोची तेने लानकुटे
यिदिगो नोरेडेंनु सुमी, ना प्राणनाथ

बिनरा नीवु कौगिट लेकुटे
 पुत्रमि वेन्नेल वेडि सुमी
 वनजाक्षा, नो वीडकु बच्चेदाका
 तलवाकिली इल्लु सुमी प्राणनाथ
 मरचि एव्वते तो नंना
 माटलाडेवु गनुक—
 मनसु विरचेदरु सुमी,
 शरणु मुव्वगोपाल, ई रेयिकूड
 जागु सेयकने रम्भी ना प्राणनाथ ।

‘हे प्राणनाथ ! तुम वहीं मत रहना, तुमने वचन दिया है कि शीघ्र वापस लौटोगे । यदि तुम वापस नहीं आओगे, तो मेरी अश्रु-धारा कावेरी की नहर बनकर बहेगी, अर्थात् तुम्हारे लिए मैं आँसू बहाऊँगी । तुम्हारे अरुण अधरों के चुम्बनों से मेरे आँठ सिक्त न रहने के कारण सूख गये हैं । यदि तुम मुझसे ज्यादा गले न लगाकर अलग रहोगे, तो पूर्णिमा की चाँदनी भी मुझे गरम मालूम होगी । हे प्रिय विष्णु-भगवान् ! तुम्हारे वापस लौटने तक यह देहली ही मेरा घर रहेगी, अर्थात् मैं देहली पर बैठकर तुम्हारी बाट जोहती रहूँगी । तुम वहाँ भूल से भी अन्य रमणियों से बातचीत न करना, वे तुम्हारे मन को तोड़ देंगी । उनके प्रेम में उलझने से मेरी ओर से तुम्हारा मन टूट जायगा । हे मेरे मुव्व गोपाल ! इस रात्रि को देर न करना, शीघ्र आ जाना, मैं तुम्हारी शरण में रहना चाहती हूँ । हे प्राणनाथ ! मैं तुम से विनती करती हूँ कि इस सेविका के पास शीघ्र आ जाना ।’

इस पद में हमें महाकाव्यों-जैसा वियोग-वर्णन मिलता है । नायिका (आत्मा) नायक (परमात्मा) के वियोग में कैसी छटपटाती है और वह उनकी शरण में रहकर कैसा सुख अनुभव करना चाहती है ? प्रियतम को प्रवास में कोई अपना न ले, इसका भय प्रेयसी को सदा लगा रहता है, इसलिए वह पहले से ही सावधान करके भेजती है । क्षेत्रध्या अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे । अपने को राधा, परमात्मा को माधव (गोपाल)

मानकर सख्य-भाव से इन्होंने उपासना की। एक ही साथ सङ्गीत, साहित्य, नृत्य-कला आदि अनेक कलाओं का विद्वान् होना इनकी महान् कला-प्रियता और विद्वत्ता का परिचायक है। ऐसे उत्तम कला-मर्मज्ञों का आदर होना ही चाहिए। तभी हमारे साहित्य, सङ्गीत और नृत्य-कला का विकास और उन्नति सम्भव है।

हर्ष का विषय है कि आन्ध्र-राज्य के सङ्घटन के उपरान्त लोगों का ध्यान इस ओर गया है। हाल ही में विशाखपट्टणम् में क्षेत्रय्या के पदों के प्रचार करने के निमित्त 'क्षेत्रय्या-पदाभिनय-प्रचार-समिति' की स्थापना हुई है। इस संस्था के उद्देश्यों में शास्त्रीय सङ्गीत और नृत्य-कलाओं के साथ 'कूचिपूडि-भरतनाट्य' का प्रचार करना भी है। इस संस्था के संस्थापकों का शुभ सङ्कल्प आन्ध्र-देश में सङ्गीत, नृत्य और अभिनय का विस्तार करना है। इस संस्था का प्रथम वार्षिकोत्सव भी मनाया गया है। उत्सव का उद्घाटन करने तथा आन्ध्र-देश में कलाओं का पुनरुद्धार करने के लिए अनुसरण करने योग्य मर्मों की विवरण-सम्बन्धी सलाह देने के निमित्त श्रीकृष्णय्यर का स्वागत किया गया। नृत्य-सङ्गीत-कलाओं में श्रीकृष्णय्यर प्रवीण है। इन्होंने मद्रास और लङ्का में, बहुत समय तक, इस क्षेत्र में काम किया है। इन्होंने उद्घाटन के भाषण में कहा कि कर्णाटक-सङ्गीत के लिए त्यागराज आदि की कृतियाँ जितनी परिपुष्ट हैं, उतने ही परिपुष्ट क्षेत्रय्या के पद भी हैं। क्षेत्रय्या के पदों में रसानुभूतिपूर्ण कविता के नाम पर भावानुभूति से युक्त अभिनय भी मिला हुआ है, इसे इन्होंने सोदाहरण दिखाया है।

बड़े-बड़े विद्वानों ने भी क्षेत्रय्या के पदों की महत्ता को स्वीकार किया है। सङ्गीत-नृत्य-साहित्यप्रधान क्षेत्रय्या के पद वस्तुतः सभी दृष्टियों से उत्तम कोटि के हैं।

भक्त रामदास

आन्ध्र-देश ने जहाँ अनेक वीरों, कवियों और वीर नारियों को जन्म दिया, वहीं अनेक भक्तों को भी पैदा किया। एक समय था, जब सारा आन्ध्र-देश भक्ति के प्रवाह में बहता नजर आता था और आन्ध्र के कोने-कोने में, गली-गली में महात्माओं, सन्तों एवं भक्तों की वाणियाँ मुखरित थीं। अनेक आश्रम, विहार और मन्दिरों में साधु-सन्त, महात्मा, भिक्षु एवं गृहस्थ भी भक्ति-भावना में तन्मय दीखा करते थे। महात्मा वल्लभाचार्यजीने यहीं से अपनी कृष्ण-भक्ति का प्रचार प्रारम्भ किया और उत्तर-भारत में जाकर भक्तशिरोमणि सूरदास-जैसे महान् साहित्यिक को अपना शिष्य बनाया। श्रीवल्लभाचार्यजी के भारत-भर में अनेक शिष्य हुए और उनका सम्प्रदाय देश-भर में फैल गया। इनके अलावा भक्ताग्रणी, पोतन्ना, योगी वेमना और सन्त वीरब्रह्मम् इसी प्रदेश में हुए।

यों तो, आन्ध्र में वैष्णव और शैव दोनों सम्प्रदायों का समान रूप से पहले प्रारम्भ हुआ। प्राचीन काल में तो शैवोपासना की अधिक प्रधानता थी। शिवलिङ्ग सर्वत्र प्रतिष्ठित थे, परन्तु उनमें तीन शैव-क्षेत्र मुख्य माने गये। इन्हीं के कारण आन्ध्र-त्रिलिङ्ग नाम की अधिक विख्याति हुई। यही बाद में त्रिलिङ्ग से तैलङ्ग के रूप में परिवर्तित हुआ, परन्तु विशेषतः १४वीं शती से आन्ध्र में वैष्णव-सम्प्रदाय जोर पकड़ने लगा और दक्षिणी गङ्गा नाम से ख्यातिप्राप्त गोदावरी नदी के तट पर आन्ध्र के आराध्य देव श्रीरामचन्द्रजी का

प्रतिष्ठापन हुआ। इसके सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा यों प्रचलित है —

‘प्राचीन-काल में ‘मेरु’ ने अपनी सहधर्मिणी ‘मेरुदेवी’ के साथ ब्रह्मा की तपस्या की। इस पर प्रसन्न होकर कमलासन ने प्रत्यक्ष होकर उन दम्पति से वाञ्छित वर माँगने को कहा, तो उन लोगों ने एक भक्त बालक की इच्छा प्रकट की। कुछ समय के उपरान्त स्वयम्भू के प्रसाद से उन दम्पति के ‘भद्र’ नामक पुत्र-रत्न हुआ।

इसके कुछ समय बाद श्रीरामचन्द्रजी जब सीता और लक्ष्मण-सहित ‘दण्डकारण्य’ में विहार करते थक गये, तब वहाँ उन्होंने एक पर्वत पर विश्राम किया। जब वे वहाँ से चलने लगे, तब उस शैलराज के आतिथ्य से प्रसन्न होकर उन्होंने वरदान दिया कि तुम्हारे आतिथ्य से बड़ा सुख प्राप्त हुआ और अपनी थकावट को दूर करके महानन्दित हुआ। तुम शीघ्र ही ‘मेरु’ के पुत्र होकर मेरे प्रधान भक्तों में एक होगे।

तदनन्तर वह पर्वत मेरुगिरि का पुत्र होकर पूर्वजन्म के ज्ञान से श्रीरामचन्द्र के प्रति महान् तपस्या की। इस पर गिरिपुत्र भद्र की तपस्या से प्रसन्न होकर रघुनाथ राम ने वर माँगने को कहा, तो भद्र ने भगवान् के दर्शन पाकर महानन्दित होकर उनकी स्तुति करते हुए कहा—

‘हे भगवान् ! आपको पाकर धन्य हुआ। और मुझे क्या चाहिए ? यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरे सिर पर वास करते हुए मुझे तथा आपके प्रति तपस्या करनेवाले भक्त जनों के मनोरथ को पूरा करते हुए उन्हें मोक्ष प्रदान कीजिए। यही मेरी कामना है।’ इस पर भक्तवत्सल भगवान् रामचन्द्र ने भद्र के निष्काम मनोरथ को पूरा किया। तब से प्रसन्न मन से भद्र के सिर पर वास करते रहने के कारण उसकी ‘भद्राचल राम’ नाम से विख्याति हुई। आज भी भद्राचल भारत के प्रधान पुण्य-तीर्थों में एक माना जाता है। यह भद्राचल आन्ध्र-भूमि में है। अतः रामचन्द्रजी आन्ध्र-देश के प्रधान देव हुए।

रामचन्द्रजी के प्रतिष्ठापन से भद्राचल में उनके अनेक भक्त हुए।

१३० १४वीं शताब्दी के महान् राम-भक्त कवि श्रीपोतन्ना प्रसिद्ध हैं।

उन्होंने अपने इष्टदेव रामचन्द्रजी से प्रेरणा पाकर भागवत की रचना की और उन्हें समर्पित किया। ऐतिहासिक सूत्रों से भी पता चलता है कि आन्ध्र में रामचन्द्रजी की प्रसिद्धि कांकातीय साम्राज्य के पतन के उपरान्त, अर्थात् १४वीं शताब्दी के मध्य भाग में, हुई। तब से रामभक्ति का विशेष प्रचार हुआ और आन्ध्र के गाँव-गाँव में 'रामालयों' का प्रतिष्ठापन हुआ। आज आन्ध्र-भर में ढूँढ़ने पर भी ऐसा कोई गाँव नहीं मिलेगा, जहाँ राम-मन्दिर का निर्माण न हुआ हो। १४वीं शती से राम के अनेक भक्त हुए, परन्तु उनमें १७वीं शती के श्रीरामदास तथा १९वीं सदी के श्रीत्यागराज प्रमुख हुए हैं। इन तीनों भक्तों की महिमा का सर्वत्र प्रचार हुआ है। ये तीनों भक्त (गोपन्ना, रामदास और त्यागराज) 'भक्त-त्रय' नाम से प्रसिद्ध हैं और अपने ढंग के निराले हैं। परन्तु, यहाँ हम भक्त रामदास की चर्चा करेंगे।

सत्रहवीं शती में गोलकुण्डा-राज्य के नेलकोंडपल्ले नामक गाँव में लिङ्गन मन्त्री नामक एक नियोगी ब्राह्मण रहा करते थे। उनकी पत्नी उस समय के गोलकुण्डा-राज्य के मन्त्री अक्कना और मादना की बहन कामाम्बा थी। कामाम्बा पतिव्रता नारियों की शिरोमणि थी। लिङ्गन मन्त्री बड़े धनवान् तो थे नहीं, फिर भी उन्हें किसी प्रकार का अभाव न था। वे दम्पति बड़े दानी, उदार, अतिथि-सेवी और विष्णुभक्त थे। सन्तान की प्राप्ति के लिए उन दम्पति ने अनेक देवताओं की आराधना की। पूजा, व्रत, यात्राएँ और दान-धर्म किये, परन्तु सब निष्प्रयोजन हुए। एक दिन उनके यहाँ एक साधु आये और उन्होंने सन्तान-प्राप्ति का मन्त्रोपदेश किया। उस मन्त्रोच्चारण के परिणामस्वरूप उन्हें एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। इससे वे दम्पति महानन्दित हुए और बहुत धूमधाम से पुत्रोत्सव मनाकर उस शिशु का 'गोपन्ना' नाम रखा।

गोपन्ना अपने माता-पिता का नेत्रन्तारा बनकर बढ़ने लगा। वे दम्पति विष्णुभक्त थे, अतः प्रारम्भ से ही बालक गोपन्ना को राम-

भक्ति सिखाई गई। लोरियाँ गाते समय वे विष्णुनाम-सङ्कीर्तन गाया करते थे। वे सदा कहा करते—‘रामय्या ममु गाचि रक्षिचु मय्या, गोपन्ना निन्नेपुडु गोलुचेवाडय्या’ (हे राम ! हमारी रक्षा कीजिए। गोपन्ना आपकी आराधना कब करनेवाला है)।

बड़ी तपस्या के उपरान्त पुत्र-प्राप्ति होने से माता-पिता उस बालक को बड़े लाड़-प्यार से पालने लगे। पाँच वर्ष की आयु में अक्षराभ्यास कराकर एक योग्य शिक्षक की देख-रेख में बालक की पढ़ाई का प्रबन्ध किया। कुछ ही दिनों में वह बालक तेलुगु का अच्छा अभ्यास कर प्रतिदिन अपने माता-पिता को ‘बाल रामायण’ पढ़कर सुनाने लगा। उसका लोकज्ञान भी अच्छा था। अच्छे विद्वानों के प्रश्नों का उचित उत्तर देकर वह लोगों को चकित किया करता था, और इस प्रकार अल्प आयु में ही वह अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण मेधावी कहलाया।

यदि कभी उनके घर में रामायण का प्रसङ्ग छिड़ता, तो बालक गोपन्ना कहता—‘हे माँ, अगर मैं रामायण-काल में पैदा होता, तो रामचन्द्रजी का चरण-सेवक बनता और उनके वनवास के समय ताड़का आदि राक्षसों का संहार करके उन्हें सुख पहुँचाता। वीर हनुमान् से पहले ही लङ्का को जला देता और जगजननी जानकी को देख आता। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी को अपने कंधों पर बिठा पल-भर में अयोध्या पहुँच जाता। निश्चय रामचन्द्रजी के चरण-सान्निध्य में उपस्थित हो भजन करता—

‘चरणमु ले नम्मित रामा नी दिव्य
वनमुन रातिनि वनितग जेसिन
चरणमु-चरणमु-चरणमु नी दिव्य

‘हे रामा ! मैंने आपके पवित्र चरणों पर भरोसा रखा है। मैं विश्वास करता हूँ कि आपकी चरण-सेवा से मैं भवसागर से पार हो जाऊँगा। मैंने उन चरणों पर भरोसा रखा है, जिन चरणों के स्पर्श-

मात्र से वन का पाषाण ग्रहत्या बन गया । मैं उन्हीं पवित्र चरणों की उपासना करता हूँ ।’

गोपन्ना को रामायण-काल में न पैदा होने का बड़ा दुःख था कि उसे ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । गोपन्ना की भक्ति-भावना पर मुग्ध होकर उनके माता-पिता ने कहा कि ‘बेटा, तुम उस समय भी राम-चन्द्रजी के भक्तों में एक जरूर होगे, वरना तुम्हें इस प्रकार की असाधारण-भक्ति कैसे प्राप्त होती ।’

गोपन्ना की, ७वें वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार आदि-सम्पन्न हुए । क्रमशः वह बालक संस्कृत और तेलुगु में पारङ्गत हो गया । महाभारत, रामायण और भागवत का विशेष अध्ययन करके अद्वितीय दक्षता प्राप्त की । वह अपनी सोलह वर्ष की आयु में गृहस्थी के कार्यों में अपने पिताजी का सहायक बनकर उत्साह दिखाने लगा । गोपन्ना के पाण्डित्य और व्यवहार-कुशलता पर ग्रामवासी मुग्ध थे ।

गोपन्ना को विवाह के योग्य पाकर लिङ्गन मन्त्री ने एक सु-मुहूर्त में पतिव्रता-शिरोमणि तथा सौन्दर्य-राशि ‘कमलाम्बा’ नामक कन्या के साथ उसका विवाह किया । कुछ समय सुखपूर्वक बीता । परन्तु, समय सदा समान नहीं रहता है । प्रकाश के बाद अन्धकार और सुख के बाद दुःख का चक्र चलता रहता है । नियति-नटी के कार्य-कलाप निराले होते हैं । कब क्या होगा, कौन जाने ? गोपन्ना के विवाह हुए कुछ ही दिन बीत पाये, कि उन पर वज्रपात हुआ । उनके माता-पिता सदा के लिए चल बसे । इस आकस्मिक घटना ने गोपन्ना के चित्त को कुछ समय के लिए विचलित कर दिया और ये किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये । परन्तु वे साहस खोनेवाले व्यक्ति न थे । गोपन्ना सब को भूल अपनी पत्नी के साथ गृहस्थी में मग्न थे । उन्हें धन-धान्य, एवं ऐश्वर्य का अभाव था नहीं । कमलाम्बा गरीबों पर दया रखती, उन्हें दान देती, खिलाती-पिलाती, सदा अतिथि-अभ्यागतों के सत्कार में लगी रहती । वह अपनी दान-प्रियता के कारण ‘अन्नपूर्णा’,

नाम से प्रसिद्ध हुई । गोपन्ना भी अपने पवित्र आचरण के द्वारा सब के प्रेम-पात्र बन गये ।

गृहस्थ होते हुए भी गोपन्ना दानी, अतिथि-सेवी, राम और सीता के परम भक्त थे । वे सदा श्रीरामनवमी, सीता-राम-कल्याणोत्सव, पूजा-भजन आदि के अनुष्ठान में अपना समय बिताते महान् भक्त हो गये । इसी समय उनके एक पुत्र हुआ । गोपन्ना ने उसे रामचन्द्रजी का वरदान मानकर उस शिशु का 'रघुराम' नाम रखा । इस प्रकार, गोपन्ना अपनी बीस वर्ष की आयु में ही मातृ-पितृ-भक्त होकर दान, पूजा-भजन आदि सत्कार्यों द्वारा जनता-जनार्दन की सेवा करते परम रामभक्त बन गये । इनकी राम-भक्ति दास्य-भावना की है । बाद में वस्तुतः राम के दास गोपन्ना 'रामदास' नाम से विख्यात हुए ।



अन्नमय्या

तेलुगु-कविता का आरम्भ गीत एवं पदों से हुआ। प्रायः विश्व के प्रत्येक साहित्य का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि लोक-साहित्य से ही वर्तमान साहित्य का विकास हुआ है और तेलुगु की प्रारम्भिक कविता के जनक लोक-गीत ही हैं। ये गीत छन्द आदि के बन्धनों से मुक्त होकर हृदय की अभिव्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक व्यक्त करने के निमित्त गाये जाते थे। इन गीतों के लिए कोई निश्चित क्रम या नियम न रहने के कारण लोग मनमाने ढंग पर इन्हें रचते गये। काल-प्रवाह में इनका स्वरूप बदल गया और वे अधिक विकृत बनते गये। तो, उस समय के कुछ विद्वानों ने गीत एवं पदों की रचना-पद्धति की जाँच करके उसके अनुकूल यति, प्रास आदि नियमों में उन्हें सजाया। रचना-पद्धति में यति और प्रास के नियमों के साथ ताल और लय का भी ध्यान रखा जाता था। अतः, ये गीत अधिकतर सङ्गीत-प्रधान हो गये। इससे तेलुगु-भाषा को भी एक प्रकार का माधुर्य प्राप्त हुआ।

स्वर-प्रधान सङ्गीत से वर्ण-प्रधान साहित्य का समन्वय तेलुगु-भाषा ने ही किया है। यही कारण है कि तेलुगु सङ्गीत और पद-साहित्य का साधन बन गई है। इस गीत-वाङ्मय में आन्ध्र-जाति के सुख-दुःख एवं उच्छ्वास-निःश्वास प्रतिबिम्बित हैं। इन गीतों में सङ्गीत, साहित्य, पद एवं अर्थमैत्री के साथ लय की प्रधानता रहने के कारण ये अधिक गाने योग्य बन पड़े हैं और इनके रचयिता गीतकार कहलाये हैं। १३५

इन गीतकारों में प्रथम स्थान श्रीताल्लपाक अन्नमय्या को दिया जा सकता है ।

श्रीअन्नमय्या का जन्म (सन् १४२३-१५०२ ई० में) आन्ध्र-देश के, कड़पा जिला, राजपेटा तालुके के 'ताल्लपाक' नामक छोटे-से गाँव में हुआ । ये बचपन से ही होनहार थे । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई । ये अपनी सोलह वर्ष की आयु में आन्ध्र के प्रसिद्ध तीर्थ तिरुपति चले गये और वहाँ भगवान् वेङ्कटेश्वर के सांघ्रिध में रहकर भजन एवं कीर्त्तन बनाने में लगे रहे । बचपन से ही इनका मन भक्ति की ओर लगा हुआ था । ये जब अपने इष्टदेव की उपासना में बैठे, तब भक्ति की धारा गीतों का रूप धारण कर हृदय-स्रोत से बह चली । ये सदा भक्ति-भाव में मग्न होकर छोटी-सी घंटियाँ बाँधे, तंबूरे के तारों को भङ्कृत करते, गीत गाते अपना समय भगवद्भक्ति में बिताया करते थे । इनकी एक मूर्ति तिरुपति के श्रीवेङ्कटेश्वर-मन्दिर में स्थापित है । शायद किसी भक्त को अपने जीवन-काल में इतना आदर और सम्मान प्राप्त नहीं हुआ होगा, जितना श्रीअन्नमय्या को प्राप्त था । ये वैष्णव ब्राह्मण होने के कारण अन्नमाचारी नाम से भी प्रसिद्ध हैं ।

यों तो, आन्ध्र में अनेक गीतकार हुए, किन्तु उनमें सबसे प्रथम स्थान श्रीअन्नमय्या को ही दिया जा सकता है । बाद के सभी भक्तों ने इन्हीं के आदर्शों को अपनाया है । त्यागराज भी इन्हीं की कोटि में आते हैं । इनको 'गीत-कविता-पितामह' कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी । इनके गीत केवल ताम्रपत्रों पर ही सुरक्षित नहीं रहे; बल्कि अनेक शताब्दियों से जनता की जबान पर भी चलते आ रहे हैं । यही इनकी लोकप्रियता का प्रबल उदाहरण है । इसके अलावा, पन्द्रहवीं शताब्दी में विजयनगर के राजाओं ने इनकी भक्ति एवं कविता-शक्ति पर मुग्ध होकर इनका विशेष आदर-सत्कार किया था । ये केवल मन्दिर में भगवान् की उपासना में ही लगे रहे । फिर भी, इनकी कीर्त्ति की सुगन्धि चारों ओर व्याप्त होकर विजयनगर तक पहुँच चुकी थी ।

तभी तो इन्हें राजसम्मान प्राप्त था। इस कारण ये अपने जीवन-काल में ही काफी प्रसिद्ध हो चुके थे।

ये भक्त और कवि थे। अतः, भगवान् की उपासना नित्य नये गान रचकर किया करते थे। इस प्रकार, इन्होंने कुल ३२,६०० कीर्तन बनाये हैं। परन्तु, आज पूरे पद हमें उपलब्ध नहीं हैं। इनके अधिकांश पद ताम्र-पत्रों पर खोदे गये थे। इनके पुत्र पेद्दु तिरुमलया तथा पोन्नचिन्न तिरुमलया भी भक्त एवं कवि थे। इन दोनों ने भी हजारों पद बनाये हैं। इन सबके गीतों को तिरुमलै-मान्दर में भगवान् की मूर्ति के सामने एक छोटा-सा कमरा बनाकर सुरक्षित रखा गया है। यह कमरा आज भी 'सङ्कीर्तन-भाण्डार' अथवा 'ताल्लपाक वारिकोट्टु' नाम से प्रसिद्ध है। इस कमरे की दीवार पर गायक एवं भक्त अन्नमय्या की मूर्ति खुदी हुई है। इस भक्तत्रय के कीर्तनों को 'ताल्लपाकवालों के गीत' नाम से आन्ध्र-वासी जानते और मानते हैं।

भक्त अन्नमय्या के समय में तेलुगु-कविता-कलोलिनी दो धाराओं में बह रही थी। एक मार्ग-कविता, दूसरी देशी कविता। मार्ग-कविता पर संस्कृत का अधिक प्रभाव था और वह पण्डितों एवं विद्वानों की वस्तु थी, तो देशी कविता जनसाधारण के लिए ज्ञान और मनोरञ्जन का माध्यम थी। अन्नमय्या ने इन दोनों शैलियों को अपनाया और दोनों में रचनाएँ कीं। अन्नमय्या जानते थे कि साधारण मानव भले ही संस्कृत का विद्वान् न हो, फिर भी वह हृदय रखता है। उसे भी भगवान् की पूजा करने का पूर्ण अधिकार है। अतः, भजन वगैरह साधारण प्रजा के लिए लाभदायक हों, इस बात का भी उन्होंने ध्यान रखा था। इस बात का पता हमें उनकी रचनाओं से मिलता है।

इन्होंने केवल पद ही नहीं बनाये, बल्कि लक्षणों से पूर्ण छन्दों का प्रयोग करके अनेक पद्य रचे। उनमें इनकी 'श्रीसर्वेश्वर-शतक' रचना उल्लेखनीय है। हिन्दी में सतसई जैसा प्रसिद्ध है, वैसा ही तेलुगु में 'शतक' महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सतसई में सात सौ दोहे होते हैं, तो शतक में सौ

पद्य-मात्र । यहाँ हम शतक के लक्षणों का भी उल्लेख करते हैं । (१) प्रत्येक पद्य के चार पाद होते हैं और चतुर्थ चरण के अन्त में इष्टदेव अथवा कवि का सम्बोधन रहता है । (२) 'शत' का अर्थ सौ होता है । शतक में सौ अथवा एक सौ आठ पद्य होते हैं । (३) इसमें कवि श्रोताओं को अपना अनुभव बताता है । (४) भावों का उद्रेक रहता है । कथावस्तु की अभिव्यक्ति न रहकर अनेक भावों का सङ्कलन रहता है, जैसा हिन्दी के मुक्तक-काव्य में । मुक्तक-काव्यों के अधिकांश लक्षण शतक के लिए भी लागू हो सकते हैं ।

तेलुगु के शतक-साहित्य में वेदान्त, नीति, धर्म, हास्य तथा समाज की आलोचना आदि कई प्रकार के विषयों से पूर्ण शतक निकल चुके हैं । तेलुगु-साहित्य के इतिहास में एक 'शतक-युग' ही है । तेलुगु का शतक-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है । अन्नमय्या के शतक-साहित्य में पद्य के चौथे पाद के अन्त में 'वेङ्कटेश्वरा !' सम्बोधन रहता है ।

गीतों में प्रासों के साथ लय की प्रधानता रहती है, विषय चाहे जो भी हो सकता है । अन्नमय्या के गीतों को, विषय के आधार पर, हम स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । (१) अध्यात्म-कीर्तन और (२) शृङ्गार-कीर्तन । अन्नमय्या ने न केवल पद ही बनाये, बल्कि उस समय तक प्रचलित 'चाँद और चाँदनी के गीत', 'भ्रमर-गीत', 'यक्षगान', और 'देशी पद' आदि अनेक प्रकार के गीतों के लक्षण बनाये । इन्होंने लक्ष्य-ग्रन्थ भी लिखे और परम्परा से चलते आनेवाले गीतों को यति, प्रास आदि नियमों से श्रेणीबद्ध भी किया । तभी से गीत पद, कीर्तन, सङ्कीर्तन, कृति आदि नामों से अनेक रूपों में परिवर्तित हुए हैं ।

अन्नमय्या ने अनेक प्रकार के कीर्तन बनाये हैं । उनमें केवल, बालकों, बूढ़ों और स्त्रियों के लिए गीत ही नहीं, बल्कि धर्म, वेदान्त, नीति आदि-सम्बन्धी कीर्तन भी हैं । इनकी लोरियों में 'जो-जो

अच्युतानन्द जो जो मुकुन्दा' नामक गीत अत्यन्त प्रसिद्ध है।' शिशु को पालने पर भुजाते समय गाई जानेवाली इस लोरी में दार्शनिक भावों को भरकर अन्नमय्या ने आन्ध्र-जाति को जन्म से ही वेदान्त का ज्ञान कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

अन्नमय्या केवल भक्त और पण्डित ही नहीं थे, वरन् ये अच्छे सङ्गीतज्ञ भी थे। इन्होंने अपने कीर्तनों में साठ राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। इनमें से इस समय बहुत कम ही राग-रागिनियाँ प्रचलित हैं। इन्होंने पुराने और नये सभी प्रकार के रागों के अनुकूल कीर्तन बनाये हैं। इनके रागों में काम्भोजी, शङ्कराभरणम् और भैरवी मुख्य हैं। इन्होंने प्रशंसनीय कार्य यह भी किया है कि अज्ञात युग में प्रचलित अनेक देशी पदों को प्रकाश में लाये और इस शैली में पद भी रचे। इनके आधार पर प्राचीन काल में प्रचलित गीतों का स्वरूप समझने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई है।

सन् १९३८ ई० में तिरुपति-मन्दिर के अधिकारियों ने, अन्नमय्या, उनके पुत्र तथा पौत्र के गीतों की, जो तिरुमलै-मन्दिर के 'सङ्कीर्तन-भाण्डार' में सुरक्षित हैं, जाँच कराकर साहित्यिक महत्त्व प्राप्त सभी गीतों के प्रकाशन का प्रबन्ध किया है। इनमें अन्नमय्या के गीतों को देवस्थान-कमिटीवालों ने ११ भागों में प्रकाशित कराया है। इनमें से कुछ कीर्तनों का स्वर-निर्धारण करके श्रीरामपल्लि अनन्तकृष्णशर्माजी ने ताल आदि का भी रूप दिया है। अन्नमय्या के गीतों में दो-एक को छोड़ अन्य गीतों के लिए ताल का निर्देश नहीं किया गया है, परन्तु राग का नाम दिया हुआ है। इन गीतों के राग रचना-भाव के आधार पर बदले जा सकते हैं। परन्तु ताल-गति के आधार पर कीर्तनों के वर्ण जोड़े जाने के कारण ताल बदलना कठिन है। श्रीअनन्त-

१—इस सम्बन्ध में मेरा लेख 'तेलुगु का एक दार्शनिक-लोकगीत' नाम से सन् १९५३ ई० की जनवरी के 'अजन्ता'-अङ्क में प्रकाशित हो चुका है।—ले०

कृष्णशर्माजी ने अन्नमय्या के समय में प्रचलित तालों की खोज करके कीर्तनों के अनुकूल ताल बिठाया है। अतः, उन्होंने इस कार्य में जो योगदान किया है, उसके लिए वे अत्यन्त प्रशंसा के पात्र हैं।

इस समय भी तिरुपति-देवालय-कमिटी की ओर से प्रकाशित होनेवाली मासिक पत्रिका में अन्नमय्या आदि के गीत प्रकाशित हो रहे हैं। इन गीतों के लिए उचित राग, ताल आदि बिठाने का प्रयत्न चल रहा है। आशा है, निकट भविष्य में ही अन्नमय्या के कीर्तनों का सम्पूर्ण भाण्डार पाकर तेलुगु-साहित्य जगमगा उठेगा। अन्नमय्या के गीतों में आज तक अधिक साहित्य का ही महत्त्व देखा जाता था, इनके गीतों का सम्पूर्ण अध्ययन के उपरान्त यह अनुभव किया जाने लगा है कि उनमें सङ्गीत-तत्त्व भी कम नहीं है। अतः, आज उनमें सङ्गीत की भी प्रधानता देखी जाने लगी है। इनके गीत साहित्य के आवश्यक गुणों के साथ सङ्गीत के समस्त लक्षणों से पूर्ण हैं। साहित्य और सङ्गीत के अच्छे ज्ञाता होने के कारण ही ये आन्ध्र में प्रथम वाग्गेयकार^१ के पद पर प्रतिष्ठित हैं।

धन्य हैं अन्नमय्याजी, जिनको पाकर तेलुगु-साहित्य और सङ्गीत गौरवमय बन गये हैं।



१—जिनकी कृतियों में साहित्य और सङ्गीत-तत्त्वों का समन्वयित रूप हो, उन्हें 'वाग्गेयकार' कहते हैं।—ले०

भक्तशिरोमणि श्रीत्यागराज

पुण्यभूमि भारतवर्ष में भक्ति की धारा अनादि काल से हृदय-क्षेत्रों को सींचती हुई अबाध गति से प्रवाहित होती आ रही है। किसी समय इस प्रवाह में बाढ़ है, तो किसी काल में धारा की गति मन्द दिखाई देती है, परन्तु वह धारा कभी सूखी नहीं। भक्ति की जननी भारत-भूमि आध्यात्मिकता की उपासिका रहकर संसार का मार्ग-दर्शन करती आई है। आज भी विश्व इसी देश की ओर देख रहा है। प्राचीन काल से भारत का यह आदर्श चला आ रहा है कि मन के दोनों पहलुओं को समान रूप से विकसित होने देना चाहिए, किसी एक के अभाव में मानव की समुचित उन्नति नहीं हो सकेगी। इसी आधार पर भारत में अनेक धर्मों का जन्म हुआ और वे फूलते-फलते रहे। इन्हीं धर्मों के अनुयायी आज विश्व के कोने-कोने में पाये जाते हैं। परन्तु 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' सिद्धान्त के अनुसार भक्ति के कई अङ्ग हो गये।

किन्तु, विशेषतः आठवीं शताब्दी से अठ्ठारहवीं शताब्दी तक देश में भक्ति का अधिक बोलबाला रहा है। इसी बीच अनेक आचार्य पैदा हुए। उन लोगों ने विभिन्न प्रकार के आदर्शों को जनता के सामने रखा। इसके अतिरिक्त, हिन्दू धर्म में बहुदेवता-वाद और अवतार-वाद ने भक्ति के क्षेत्र में क्रान्ति पैदा कर दी। लक्ष्य एक होते हुए भी मार्ग अलग-अलग थे। जिन्हें जो मार्ग भाया, उसी मार्ग का अनुसरण किया। इन मार्गदर्शकों के सामने भी विभिन्न प्रकार १४१

के आदर्श थे । कोई वैष्णव-धर्म को आदर्श मानते थे, तो कोई शैव को । कोई द्वैत-वाद को श्रेष्ठ सिद्ध करते तो कोई अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि को महत्त्वपूर्ण ठहराते ।

जो हो, भारत में मुख्यतः रामावतार और कृष्णावतार के ऊपर अत्यधिक चर्चा हुई, साहित्य का सर्जन हुआ, मन्दिर बने, पूजा होने लगी । दक्षिण से कई आचार्य अपने सिद्धान्त एवं धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर पहुँचे । वहाँ क्षेत्र तैयार था । रामानन्द, वल्लभाचार्य, शङ्कराचार्य आदि ने सारे उत्तर-भारत में भक्ति का प्रचार करके जन-मानस को परिष्कावित किया । इसी को दृष्टि में रखकर तुलसी ने कहा था—‘भक्ति उपजै दक्षिण लाये रामानन्द ।’ उस समय दक्षिण में अनेक आचार्य हुए । उन आचार्यों के उपदेशामृत का पान करके कई ऐसे भक्त हो गये थे, जिन लोगों ने किर्त्तव्यविमूढ जनता का मार्ग-दर्शन करके उनके प्रतिनिधित्व का भार अपने हाथों में लिया । उनमें सूर, तुलसी, जयदेव, विद्यापति, मीरा, नामदेव, तुकाराम, त्यागराज आदि मुख्य माने जाते हैं ।

यहाँ हम भक्त त्यागराज की चर्चा करेंगे । भक्त त्यागराज ने अपने इष्टदेव का गुण-गान करके अपने को धन्य ही नहीं बनाया, बल्कि साधारण मानव के हृदयतल को उस रस से ओत-प्रोत किया, और कीर्त्तन रचकर, राग-रागिनियों को जन्म देकर अमर हो गये ।

चोल-मण्डल की राजधानी, वर्त्तमान मद्रास-प्रान्त का एक जिला, जो तमिल-प्रान्त में पड़ता है, तंजाउर के निकट तिरुवालूर नामक तीर्थस्थान में भक्त रामब्रह्मम् रहा करते थे । इनके दादा, परदादा रायल-सीमा के कनूँल जिला के ‘काकल’ नामक गाँव के निवासी थे । यही कारण है कि इनका वंश ‘काकल’ नाम से प्रसिद्ध हुआ । राम-ब्रह्मम् के दादा १६वीं शताब्दी में तिरुवालूर यात्रा के निमित्त आये और वहीं बस गये ।

रामब्रह्मम् सदाचारी, विनयी, भक्त तथा विद्वान् थे । इनका १४२ विवाह शान्ता नामक नारी-रत्न से हुआ । शान्ता कोमल स्वभाव की,

पतिपरायणा, पतिव्रता नारी थी। इस दम्पति के दो पुत्र थे— बड़े का नाम जपेश और छोटे का नाम रामनाथ। उसी गाँव में श्रीत्यागराज स्वामी का एक मन्दिर था, जहाँ यह दम्पति प्रतिदिन पूजा किया करते थे। भक्त रामब्रह्म अपने इष्टदेव से वर माँगा करते कि उसे एक भक्तशिरोमणि पुत्र का वरदान मिले। समय बीतता गया। एक दिन स्वप्न में शान्ता ने देखा, कोई दिव्य पुरुष कह रहा है— 'तुम्हारी पूजा सफल हुई, तुम्हारे गर्भ से गायक-शिरोमणि का उदय होगा।' शान्ता ने यह समाचार पति को दिया। कुछ ही दिनों में वह गर्भवती हुई और सर्वजित्, वैशाख शुद्ध षष्ठी, सोमवार के पुनर्वसु नक्षत्र, कर्कट लग्न में दोपहर के समय शान्ता ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भक्त रामब्रह्म ने उसे श्रीत्यागराज स्वामी का वरदान मानकर उस बालक का नाम 'त्यागराज' रखा। घर पर ही बालक की शिक्षा-दीक्षा हुई। अपने अन्य भाइयों के साथ त्यागराज ने तेलुगु और संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। परिवार के बढ़ने के साथ-साथ गरीबी भी बढ़ती गई। फलतः, रामब्रह्म को घर-गृहस्थी चलाना दुष्कर हो गया। यहाँ तक उसे तिरुवालूर छोड़कर तंजावर के समीप के पञ्चनदक्षेत्र (तिरुबैयार) में आना पड़ा।

त्यागराज के दोनों बड़े भाई नटखट निकले। माता-पिता पर भक्ति नहीं रखते थे। पर त्यागराज की अनन्य भक्ति, श्रद्धा एवं विनय से माता-पिता मुग्ध थे। वह सबेरे उठते, नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर घर के काम-काज में सहायता देते, तदनन्तर पूजा-पाठ एवं भजन आदि करते। त्यागराज की भक्ति और उनका कष्टमाधुर्य देखकर रामब्रह्म ने तंजावर के राजदरबार के सङ्गीत-विद्वान् श्रीशोण्ठि वेङ्कटरमणय्या के आश्रय में छोड़ दिया। त्यागराज अनति काल में ही सङ्गीत-शास्त्र में पारङ्गत हुए। राग, आलापन, ताल इत्यादि का, अपनी सोलह वर्ष की अवस्था में ही, पूर्ण अभ्यास करके सङ्गीत-शास्त्र के बड़े पण्डित के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

इसी समय त्यागराज के बड़े भाई जपेश का विवाह हुआ और दूसरे भाई रामनाथ का देहान्त हो गया। त्यागराज का विवाह उनकी अठारह वर्ष की आयु में पार्वती नामक कन्या से हुआ। विवाह के कुछ ही दिनों के उपरान्त उनके माता-पिता का स्वर्गवास हुआ। त्यागराज की सहधर्मिणी पार्वती भी उनके साथ केवल चार ही वर्ष तक रह सकी। पार्वती की मृत्यु ने त्यागराज पर वज्र-प्रहार किया। फिर भी, उन्होंने पार्वती की छोटी बहिन कमलाम्बा से विवाह किया, पर उनमें विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया। ये परिवार की चिन्ता नहीं किया करते थे। जीवन से वैराग्य और आध्यात्मिक चिन्ता में लीन त्यागराज को देखकर उनके बड़े भाई जपेश ने क्रुद्ध होकर डाँटा—‘पूजा-पाठ और भजन से पेट नहीं भरता। तपस्या से परिवार सुखी नहीं बन सकता है। पहले शरीर की चिन्ता करो, पेट की पूजा करो, बाद में आत्मा की चिन्ता कर सकते हो। जो तपस्या पेट नहीं भर सकती उसको करना उचित नहीं। बराबर ‘राम-राम’ रटने से शरीर की हानि ही होगी। गला सूख जायगा। कमाते नहीं, तप का बहाना ढूँढ़ निकाला है। यह भी कोई त्याग कहा जा सकता है।’

भाई की अज्ञता पर त्यागराज को हँसी आई। बड़े विनय के साथ उन्होंने अपने भाई से कहा—‘हे भाई! सारी सम्पत्ति का भोग आप ही कीजिए। मुझे रहने के लिए एक भोपड़ी काफी है। मेरा मूलधन रहेगी सिया-राम की मूर्ति। इस संसार-रूपी सागर को पार करने के लिए तम्बूरा ही मेरी एकमात्र नाव होगा। मेरी भुक्ति होगी राम-नामामृत का पान।’ जपेश ने भी पैतृक सम्पत्ति में से फटी-पुरानी छोटी चटाई, छलनी की तरह चूनेवाला छिद्रों से पूर्ण एक लोटा, दीमकों का वासस्थान ताड़ के पत्तों से बनी भोपड़ी, तम्बूरा, पुरानी पाण्डुलिपियाँ, रुद्राक्षमाला आदि वस्तुएँ हिस्से में त्यागराज को दीं। उसीको लाखों की सम्पत्ति मानकर बड़े आनन्द के साथ त्यागराज ने स्वीकार किया। त्यागराज मधुकरी-वृत्ति करके अपना पेट

पाते थे । कुछ समय के बाद कमलाम्बा से उन्हें एक पुत्री हुई, जिसका नाम सीतालक्ष्मी रखा ।

इस प्रकार, भक्त श्रीत्यागराज अपने जीवन का निर्वाह करते चले जा रहे थे । एक दिन उनके यहाँ श्रीकृष्णानन्दयोगी का आगमन हुआ । त्यागराज ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया । उनके आतिथ्य से प्रसन्न होकर कृष्णानन्दजी ने वर माँगने को कहा । त्यागराज ने विनम्र होकर इस भव-सागर से पार करनेवाले तारक मन्त्र के उपदेश की याचना की । योगिराज ने दाशरथि (राम) का भजन करके जीवन को धन्य बनाने की सलाह दी और कहा— 'जो व्यक्ति रामतारक-मन्त्र को ९० करोड़ बार जपेगा, वह पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जायगा ।' इस प्रकार, गुरु से उपदेश लेने की भक्तों की जो परिपाटी है, उसे भी श्रीत्यागराज ने निभाया और मुक्ति का मार्ग पाकर उसपर चलने का दृढ़ निश्चय भी किया ।

साधकों ने गुरु का महत्त्व माना है । कबीर, जायसी, सूर आदि सब को गुरु से ही प्रेरणा मिली थी । वैसे ही त्यागराज ने श्रीकृष्णानन्दयोगी से उपदेश पाकर भक्त-कुलकर्म को निभाया और प्रतिदिन सवा लाख बार तारक मन्त्र जपा । ३८ वर्ष की आयु में जप पूरा करके वे कृतकृत्य हो गये । जब ९० करोड़ बार जप चुके, तब महापर्व के दिवस पर सु-मुहूर्त में विप्रवृन्द को बुलाकर सब के समक्ष मन्त्र-सिद्धि को 'रामचन्द्रार्पणम्' कहकर सीतापति के चरणों में अर्पित किया ।

ठीक उसी समय बाहर से किसी के द्वार खटखटाने का शब्द हुआ । त्यागराज ने बड़ी आतुरता से जाकर द्वार खोला, तो देखते क्या है कि श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और मुनि विश्वामित्र-सहित यज्ञ-रक्षणार्थ प्रयाण करनेवाले वेष में उपस्थित हैं । भक्त का हृदय अपने इष्टदेव को समक्ष पाकर भक्ति के आवेश में तन्मय होकर उछल पड़ा । उनके हृदय-गह्वर से भक्ति एवं विनय की धारा बह निकली । थोड़ी देर तक अर्धनिमीलित नेत्र से उनके

भजन में तल्लीन हुए। कुछ देर के बाद आँखें खोलकर देखते हैं, तो वहाँ रामचन्द्रजी दिखाई नहीं देते हैं। इस पर दुःखी होकर आँसू बहाते हुए वे विलाप करते हैं—‘हे भगवन्, तुम तो रत्नों से जटित आसनो पर आराम करनेवाले हो, मेरी झोपड़ी में छोटी टूटी-फूटी चटाई पर कैसे विश्राम कर सकोगे? पञ्चभोजन के सेवन करनेवाले तुम मेरे घर के फीके भोजन से कैसे तृप्त होगे? तुम तो चन्द्रहारों को पहननेवाले ठहरे, मेरे यहाँ की तुलसी-माला को कैसे पहन सकोगे? तुमने दर्शन देकर मुझे शोक-सागर में ही डुबोया; क्योंकि मैं समझता हूँ कि तुम रूठकर चले गये हो। मैं तुम्हारा आदर-सत्कार तक नहीं कर सका।’

त्यागराज ने अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्र की उपासना निर्लित होकर की है। उनकी भक्ति दास्य-भावना-प्रधान थी, जिसमें विनय की अधिकता है। यहाँ हमें हिन्दी के श्रेष्ठ भक्त कवि तुलसी की याद अनायास हो आती है। पर, जहाँ तुलसी पहले कवि, बाद में भक्त थे, वहाँ त्यागराज का कविहृदय उनकी भक्ति के सामने दबता दिखाई देता है। भक्ति की आवेगमयी धारा में कविता सहायक बनकर त्यागव्या के मुँह से निकला करती थी। उन्होंने स्वयं कई कीर्तन बनाये और गाये। उनका कण्ठ-माधुर्य तो अवर्णनीय था। गाते समय उस प्रवाह में वे अपने को भूलकर बह जाते थे। इसीलिए, इनके गाने इतने स्वाभाविक बन पड़े हैं।

त्यागराज सदा अपने इष्टदेव की सेवा में उपस्थित रहने की कामना रखते थे। इसीको लक्ष्य करके वह विनति किया करते थे—“माता कौसल्या को रामचन्द्रजी का मुँह चूमने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दशरथजी को ‘राम, राम’ कहकर पुकारने का सु-अवसर मिला है। विश्वामित्र को तो राम-लक्ष्मण को सदा अपनी आज्ञा पर चलते हुए देखकर मन-ही-मन प्रसन्न होते रहने का भाग्य मिला है। अहल्या को रामचन्द्र की पद-धूलि का स्पर्श करके तर जाने का महान् अवसर प्राप्त हो गया है। महाराज जनक के भाग्य में तो अपनी

कन्या ब्याहकर रामचन्द्रजी के पैर धोने का शुभ अवसर बदा था । पर मैं ही ऐसा भाग्यहीन ठहरा, मुझे कभी इस प्रकार का अवसर नहीं मिला ।”

त्यागराज केवल अपनी भक्ति और कीर्तन के लिए ही प्रसिद्ध नहीं हैं, बल्कि गायन के कारण तो वे लोकविदित हैं । समूचे भारत में ऐसा कोई ही होगा, जिसने त्यागराज का गाना न सुना हो । त्यागराज को भक्त और कवि की अपेक्षा गायकरूप में ही भारतवर्ष के लोग अधिक जानते और मानते हैं । इन्होंने स्वयं कीर्तन रचे, उनके लिए कई राग-रागिनियों को जन्म देकरताल और लय पर बिठा दिया । वे मस्त होकर गाते थे, तो श्रोता मुग्ध होकर वार-वाह करने लगते थे । त्यागराज की रागिनियों ने सङ्गीत को अमर बना दिया । त्यागराज के कीर्तन ‘कर्णाटक-सङ्गीत’ नाम से प्रसिद्ध हैं । इस कर्णाटक-सङ्गीत को त्यागराज की देन कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । आज कर्णाटक-सङ्गीत की महत्ता की धाक केवल दक्षिण में ही नहीं, अपितु उत्तर-भारत में भी जम गई है । त्यागराज की कृतियों को सुनने की अभिरुचि लोगों में दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है ।

धीरे-धीरे त्यागराज की भक्ति की महिमा और अद्भुत-गान-विद्या की प्रशंसा देश-भर में होने लगी । देश के कोने-कोने से लोग उनके दर्शन के लिए आने लगे । कुछ लोग तो उन्हें स्वयं नारदमुनि का अवतार मानने लगे थे । एक दिन उनके यहाँ एक अतिथि आया । वह बूढ़ा था । उसने त्यागराज से गाना सुनने की इच्छा प्रकट की । त्यागराज का कीर्तन सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि आज दिन-भर मैं तुम्हारा अतिथि बनकर रहूँगा । तदनन्तर, स्नान आदि करके जल्दी लौटने की बात कहकर वह चला गया, फिर आया नहीं । उसकी प्रतीक्षा में त्यागराज बिना खाये-पिये बैठे रहे ।

स्वप्न में उन्हें एक दिव्य मूर्ति के दर्शन हुए । उन्होंने कहा—“हे गायक ! मैं नारद हूँ । तुम्हारे आतिथ्य से बहुत प्रसन्न हो गया हूँ । तुमसे बढ़कर कोई बड़ा गायक इस संसार में नहीं होगा । मैं तुम्हें १४७

‘स्वरार्णव’ दे रहा हूँ। इसका अध्ययन करके ‘विशुद्ध शास्त्रीय सङ्गीत’ का उद्धार करो !” यह कहकर नारद अन्तर्हित हो गये। त्यागराज चौककर उठ बैठे। नारद को न पाकर उनकी महिमा गाने लगे। तबसे त्यागराज ने स्वरार्णव का अच्छा अध्ययन किया। उनके रहस्यों से परिचित होकर भक्ति से ओत-प्रोत शास्त्रीय नियमों से मुक्त गीतों की रचना करके वे उन्हें गाया करते थे।

उनकी प्रसिद्धि से प्रभावित होकर तंजावर के राजा शरभोज ने उनका पुरस्कार से सम्मान करना चाहा। वे सङ्गीत के बड़े प्रेमी थे। वे तिरुबैयार में ठहरे थे। त्यागराज का सङ्गीत सुनकर उन्हें आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से बुलाने के लिए राजा ने अपने दूतों को भेजा। दूतों की बात सुनकर त्यागराज बड़ी चिन्ता में पड़ गये और वह इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—

निधि चाला सुखमा ? रमुनि
सन्निधि सेव सुखमा ? निजमुग बल्कु मनसा ?
दधि नवनीत क्षीरमुलु रुचियो ? दाश-
रथि ध्यान भजन सुधारसमु रुचियो ?
दमशमनु गङ्गास्नानमु सुखमा ?
कर्म दुर्विषय कूपस्नानमु सुखमा ?
ममता बन्धनयुत नरस्तुति सुखमा ?
सुमति त्यागराजनुतुनि कीर्तन सुखमा ?

‘हे मन ! सच-सच बता। इन भौतिक सुखों की उपासना में सच्चा आनन्द है या रामचन्द्रजी के सान्निध्य में ? दही, मक्खन और दूध का स्वाद अधिक रुचिकर है या दाशरथि (श्रीरामचन्द्र) के ध्यान-भजन का सुधा-रस स्वादिष्ट है। वासनाओं का दमन करनेवाला पवित्र गङ्गास्नान अधिक लाभदायक है या वासनाओं से पूर्ण कूपस्नान ? ममता, माया, बन्धन आदि से मुक्त मानव की स्तुति आनन्ददायक है या श्रीरामचन्द्रजी के गुण गाने में अधिक सुख है ? तू ही बता।’ इस प्रकार, भगवान् से प्रार्थना करके

उन्होंने अपने मन को दृढ़ बनाया और दूतों से कहा—‘मेरी जिह्वा राम-नाम जपना ही जानती है, वह नर-स्तुति नहीं कर सकेगी। जिन हाथों से मैंने ईश्वर की आराधना की है, उन्हीं हाथों को जोड़कर मैं राजा को नमस्कार करना नहीं चाहता, जिन नेत्रों से मैं भगवान् विष्णु की मूर्ति को देखता हूँ, उन्हीं आँखों से मैं दूसरों को कैसे देखूँ ? मैंने अपने जिस शरीर को श्रीरामचन्द्रजी की सेवा में लगा दिया है, उसी शरीर को मैं दूसरों की सेवा में कैसे लगा सकूँगा। धन, वाहन, पत्नी, सुत, बन्धु, मित्र आदि मायाजाल की मरीचिका में पड़कर मैं राजा की भीख नहीं ले सकूँगा। अतः, तुमलोग जाकर कह दो कि त्यागराज सिवा रामचन्द्रजी के दूसरों के दरबार में जाना नहीं चाहता है।’

दूतों से यह समाचार पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु त्यागराज का भाई जपेश आपे से बाहर हो गया, और त्यागराज को दोष देने लगा—‘हम मानते हैं कि तुम बड़े गायक हो, लेकिन राजा के स्वयं निमन्त्रित करने पर उस निमन्त्रण को टुकराना गर्व का परिचायक है। तुम उस निमन्त्रण को स्वीकार करते, तो राज-दरबार में तुम्हें गौरव प्राप्त होता और मुझे अच्छी नौकरी मिल जाती। तुमने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। तुम जैसे मधुकरी-वृत्ति करके जीवन-यापन करनेवाले को राज-दरबार में गौरव प्राप्त करनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त होता ? दिन-रात उन मूर्तियों की उपासना एवं भजन में समय बिताते हो। तुम पागल तो नहीं हुए ?’

इतने से ही जपेश को सन्तोष नहीं हुआ। एक रात, त्यागराज की उन मूर्तियों को ले जाकर कावेरी नदी के तट में गाड़ दिया। सवेरे मूर्तियों को न पाकर त्यागराज पागल की भाँति प्रलाप करने लगे। गाँव के बाहर ढूँढा, पर नहीं मिलीं। पुनः रामचन्द्रजी के दर्शन स्वप्न में हुए। उन्होंने सारी बात कही। श्रीरामपञ्चायतन-मूर्ति को कावेरी में पाकर त्यागराज राम के गुण गाते घर पहुँचे। इधर रामचन्द्र की कृपा से जपेश का मन बदल गया। तब से वह त्यागराज के प्रति प्रेमभाव रखता हुआ उनका सहायक बन गया।

अपनी वृद्धावस्था निकट आई जान त्यागराज ने सभी तीर्थस्थानों की यात्रा का निश्चय किया। पहले तिरुवैयार तथा मद्रास की यात्रा पूरी करके ये तिरुपति जाना चाहते थे। किन्तु, मद्रास में सुन्दर मुदलियार नामक एक धनी भक्त ने त्यागराज को अपने गाँव कोबूर आने के लिए निमन्त्रित किया। उस भक्त की इच्छा को वे ठुकरा न सके। वहाँ कुछ समय तक रहने के उपरान्त जब त्यागराज जाने लगे, तब भक्त मुन्दर मुदलियार ने सोचा यदि त्यागराज के हाथ में वह कुछ धन देगा, तो वे स्वीकार नहीं करेंगे। अतः, उसने त्यागराज की पालकी के एक कोने में एक हजार मुद्राएँ रखीं और त्यागराज के शिष्यों को सूचित कर विदा किया। तिरुपति के रास्ते में नागलापुर के निकट रात हो गई। लुटेरों ने यह समझकर कि पालकी में धन होगा, पत्थर फेंकना आरम्भ किया।

त्यागराज के शिष्य भय एवं चोटों के मारे परेशान होकर चिल्लाते लगे कि अब हमारी यात्रा कैसे होगी? लुटेरे हमारे प्राण ले करके ही छोड़ेंगे। इस पर त्यागराज ने कहा—‘हमारे पास धन नहीं है, इसलिए हमें डरने की कोई जरूरत नहीं।’ शिष्यों ने सारी बातें बताईं, तो त्यागराज ने उत्तर दिया—‘जब भगवान् को वे रुपये सौंपे गये हैं, तब वे ही उनकी रक्षा करेंगे।’ कहा जाता है कि धनुर्धारी राम-लक्ष्मण उनके सहायक बनकर तीरों से चोरों को भगाते सवेरे तक त्यागराज की रक्षा करते रहे। रामचन्द्रजी के दर्शन-मात्र से चोरों के हृदय बदल गये और उन लोगों ने त्यागराज के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी। त्यागराज ने उन चोरों के भाग्य की सराहना करके उन्हें गीत सुनाकर प्रसन्न किया।

जब ये तिरुपति पहुँचे, तब वहाँ के पुजारियों ने ‘यह दर्शन करने का समय नहीं है’ कहकर, श्रीवेङ्कटेश्वरस्वामीजी के दर्शन कराने से इनकार किया और मूर्ति के सामने पर्दा गिरा दिया। भगवान् के दर्शन न होते देखकर त्यागराज चिन्तित होकर प्रार्थना करने लगे—‘हे भगवन् !
१५०. मैं तुम्हारे दर्शनों के लिए बहुत दूर से आ रहा हूँ। यहाँ के पुजारी तो

भेंट लेकर दर्शन कराते हैं। तुम तो करुणानिधि हो, तुम्हें भेंट देकर मैं तुम से वर माँगना नहीं चाहता; क्योंकि मैं तुम्हारा एक निर्धन दास हूँ। इसलिए पर्दा हटाकर कृपया दर्शन का सौभाग्य प्रदान कीजिए।' उनकी प्रार्थना भगवान् ने सुन ली और पर्दा उसी क्षण टूटकर नीचे आ गिरा। जब वे तिरुपति से काञ्चीपुरम् पहुँचे, तब वहाँ भी उन्होंने अपनी प्रार्थना एवं भक्ति के बल पर एक भक्त को जीवन-लाभ कराया।

इस प्रकार की अनेक दन्तकथाएँ त्यागराज के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। इन पर विश्वास करने या न करने का अधिकार मैं पाठकों पर ही छोड़ देता हूँ; क्योंकि इनकी जीवनी में इस प्रकार की अनेक अद्भुत घटनाओं का विवरण हमें मिलता है, जिन पर विश्वास करना कठिन मालूम होता है।

एक दिन उनके यहाँ त्रिभुवन स्वामिनाथ अय्यर आये और इन्होंने त्यागराज से प्रार्थना की कि वे रात को इनका नाटक देखें। नाटक में प्रसङ्गानुसार अय्यरजी ने 'आनन्दभैरवी' राग में एक गीत गाया। त्यागराज उस गाने को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। नाटक के उपरान्त अय्यर ने त्यागराज से याचना की कि वे इनके गान को संसार में चिरस्थायी कर दें। और, यह भी बताया कि मैंने जो गीत गाया है यह उन्हींका बनाया हुआ है। यह भी प्रार्थना की कि भविष्य में त्यागराज 'आनन्दभैरवी' राग में गीत न बनावें, जिससे इनकी प्रसिद्धि में बाधा न पहुँचे। त्यागराज ने इनकी बात मान ली और अन्त तक उसका पालन भी किया।

कुछ समय के बाद त्याग की पत्नी कमलाम्बा बीमार पड़ी और उसका देहान्त हो गया। पत्नी-वियोग से त्यागराज सन्त बनकर अपने दिन काटने लगे। कुछ ही समय बाद स्वप्न में श्रीरामचन्द्रजी ने त्यागराज से कहा कि 'अब तुम्हारी अवधि समाप्त होने को है। तुम्हारी पूजा सफल हुई है। अतः, तुम स्वर्ग के अधिकारी हो गये हो।' इससे बहुत ही आनन्दित होकर त्यागराज शेष दिनों की प्रतीक्षा करने लगे। पराभव संवत्सर, पुष्य कृष्ण पञ्चमी के दिन त्यागराज इस माया की काया को त्याग कर परमात्मा में जा मिले।

महाकवि कृष्णदेवराय

तेलुगु-साहित्य में कृष्णदेवराय का समय स्वर्ण-युग माना जाता है। उस समय तेलुगु के उत्कृष्ट महाप्रबन्ध-काव्यों की सृष्टि अधिक संख्या में हुई और इनके आविर्भाव का प्रधान कारण महाराजा कृष्णदेवराय थे। इसलिए, इस युग का नामकरण 'प्रबन्ध-काव्य-युग' और 'रॉयल-युग' हुआ है। कृष्णदेवराय के समय (१६वीं शताब्दी) में जितने प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण हुआ, उनमें 'मनु-चरित्र' और 'वसु-चरित्र' के बाद 'ग्रामुक्त माल्यदा' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। 'ग्रामुक्त माल्यदा' के सम्बन्ध में विचार करने के पहले हमें उस समय के साहित्य की स्थिति का अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है।

कृष्णदेवराय के पूर्ववर्ती कवियों ने पुराणादि संस्कृत-ग्रन्थों का मृदु मधुर शैली में अनुवाद-मात्र किया था। परन्तु, स्वतन्त्र रूप से प्रबन्ध-काव्य की रचना का मार्ग कृष्णदेवराय के आस्थान-कवि 'आन्ध्र-कविता-पितामह' नाम से विख्यात अल्लसानि पेद्दना ने प्रशस्त किया। इसी समय से तेलुगु में मौलिक और स्वतन्त्र काव्यों की रचना का बीजारोपण हुआ और आज तक वह शृङ्खला टूटी नहीं।

महाराजा कृष्णदेवराय के दरबार में अष्ट-दिग्गज नामक आठ महाकवि थे। इन सभी ने महाप्रबन्धों की रचना की है। अल्लसानि पेद्दना, नन्दि तिम्मन्ना, अय्यल राजु रामभद्र कवि, महाकवि धूर्जटि, १५२ पिङ्गलि सूरन्ना, मादयगारि मल्लन्ना, रामराज भूषण और तेनालि

रामकृष्ण अष्ट-दिग्गज नाम से विख्यात हैं। कुछ लोगों के कथनानुसार पिङ्गलि सूरन्ना, रामराज भूषण और तेनालि रामकृष्ण कवि कृष्णदेव-राय के समकालीन नहीं, बल्कि उसी युग के माने जाते हैं। कुछ विद्वानों का तर्क है कि कृष्णदेवराय के समय में ये बाल्यावस्था में थे।

कृष्णदेवराय के दरबार में प्रतिदिन साहित्यिक गोष्ठियाँ होती थीं। समस्यापूर्ति, आशु-कविता इत्यादि के चमत्कार तो उस दरबार की विनोद की वस्तुएँ थीं। इन विषयों से सम्बद्ध अनेक चाटु-कविता, दन्त और लोक-कथाएँ आज भी ग्रान्ध के जनपदों में प्रचलित हैं, जिनमें अष्ट-दिग्गज, कृष्णदेवराय तथा उनकी गोष्ठियों से सम्बद्ध विषयों की घटनाएँ वर्णित हैं। इनके समय में अत्यन्त मनोहर कल्पित कथाओं के आधार पर महाकाव्यों की सृष्टि हुई है। इस समय साहित्य की जो विपुल व्याप्ति और प्रचार हुआ, वह इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था। कृष्णदेवराय स्वयं कवि और पण्डित थे। वे अपने राज्य-व्यवहारों का उत्तम रीति से पालन करते हुए शेष समय सुख भोगों में न व्यतीत कर भाषा और साहित्य के पोषण में लगे रहते थे। इनके समय तेलुगु-साहित्य अनेक नई रीतियों और प्रवृत्तियों में विकसित हुआ था।

कृष्णदेवराय कृतिकर्ता ही नहीं, कृतिभर्ता भी थे। इनके दरबार में अल्लसानि पेद्दन्ना ने मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत 'स्वारोचिष मनुसम्भव' नामक छोटी-सी कथा को लेकर अपनी कल्पनाओं और भावनाओं द्वारा उसे एक महाकाव्य का रूप दिया और वह कृति कृष्णदेवराय को समर्पित की! इस काव्य ने तेलुगु - कविता में नई रीति और नई शैली को जन्म दिया। इस काव्य पर मुग्ध होकर कृष्णदेवराय ने पेद्दन्ना को 'ग्रान्ध-कविता-पितामह' नामक उपाधि से विभूषित किया। पेद्दन्ना को अग्रहार प्रदान कर उनका सत्कार किया। यही नहीं, पेद्दन्ना की पालकी कृष्णदेवराय ने स्वयं उठाई और महाकवि पेद्दन्ना के पैरों में 'स्वर्णगण्डपेण्डरम्' पहनाया। जब कभी राजा विजयनगर राजपथ में हाथी पर निकलते, उस १५३

समय यदि मध्य मार्ग में पेद्दना दिखाई देते, तो वे हाथी को रोककर अपने हाथ का सहारा दे उन्हें हाथी पर बिठाते थे। इससे बढ़कर और कोई राजा किसी कवि का सम्मान क्या कर सकता है। यह केवल कवि-पूजा और सम्मान नहीं था, बल्कि कविता की पूजा और साहित्य का सम्मान था।

पेद्दना और कृष्णदेवराय का सम्बन्ध पृथ्वीराज और चन्दबरदाई का-सा था। दोनों सदा साथ रहते, शिकार खेलने जाते आदि। कहा जाता है कि छत्रपति शिवाजी ने भूषण की कविता पर प्रसन्न हो उनकी पालकी उठाई थी। वह कार्य कृष्णदेवराय ने भी सम्पन्न किया था। राजा स्वयं महाकवि थे। इसलिए, साहित्य का मूल्य वे अधिक समझते थे। वे साहित्य-रूपी काव्य-मणियों के जौहरी थे। कृष्णदेवराय के पाण्डित्य पर मुग्ध होकर उनके दरबारी कवि नन्दि तिममन्ना ने अपना 'पारिजातापहरणम्' नामक काव्य कृष्णदेवराय को ही समर्पित किया था। इसी कवि ने 'नाना-सूनवितान वासनल' 'मधुकरि पुञ्जुम्बु लिर्वङ्कलन्' नामक वर्ण-वृत्त को विना विराम के रचकर सुनाया और इस कारण वे मुक्कु (नासिका) तिममन्ना नाम से विख्यात हुए।

'अभिनव-भरताचार्य' उपाधि-प्राप्त श्रीभण्डार लक्ष्मीनारायण नामक संस्कृत के सुप्रसिद्ध पण्डित और सङ्गीत के विद्वान् भी कृष्णदेवराय के आस्थान में थे। इन्होंने 'सङ्गीत-सूर्योदय' नाम से पाँच अध्यायों का ग्रन्थ रचा। इस कवि के शिष्य भानुकवि ने 'पञ्चतन्त्र' का आन्धीकरण (तेलुगु-अनुवाद) किया और अपने गुरु को समर्पित किया। ईश्वर दीक्षित नामक एक दूसरे संस्कृत के पण्डित कृष्णदेवराय के दरबार में थे। इन्होंने 'वाल्मीकि-रामायण' कृष्णदेवराय को समग्र रूप में सुनाया और 'समर्थपाठक' नामक यश प्राप्त किया। इस पण्डित ने 'रामायण' की जो व्याख्या लिखी, वह अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है।

तिम्लणाचार्य नामक एक कन्नड-कवि श्रीकृष्णदेवराय की सभा में थे १५४ और उन्होंने कन्नड में 'महाभारत' की रचना करके रायजी को कृतिभर्ता

बनाया। तमिल-भाषा के कवि और पण्डित भी कृष्णदेवराय की सभा में थे और वे तमिल-वाङ्मय में स्थित वैष्णव-सिद्धान्त से कृष्णदेवराय को अवगत कराते थे। इस प्रकार कृष्णदेवराय ने तेलुगु, संस्कृत, कन्नड और तमिल-भाषाओं के पण्डित और कवि-शिरो-मणियों का आदर किया।

वसन्त-ऋतु के समय की एक घटना है। वसन्तोत्सव के अन्तिम दिन कृष्णदेवराय अपने साथ स्वर्ण-ताम्बूल-पात्र में कवि-गण्डपेण्डर सभा-भवन में ले आये और कहा—‘जो कवि संस्कृत और तेलुगु में समानरूप से कविता बनाकर सुना सकेंगे, वे ही इसे प्राप्त करेंगे।’ इस पर दरबार के समस्त कवि चुपचाप एक दूसरे का मुँह देखने लगे। इस पर राजा ने कहा—

‘मुद्दुग गण्डपेण्डियरमुन् गोनुडंचु बहूकरिपगा
नोद्विक ना को संगु मनि योक्करु गोरग लेरु लेरोको’

अर्थात्, मैंने प्रेम के साथ गण्डपेण्डर से पुरस्कृत करना चाहा, किन्तु कोई भी यह नहीं चाहता कि यह पुरस्कार उसे दिया जावे।

इस प्रकार पद्य के दो चरण पढ़कर चुप रह गये।

तब अल्लसानि पेद्दन्ना उठ खड़े हुए और उस पद्य के शेष दोनों चरणों की पूर्ति इस प्रकार की—

‘पेद्दन बोलु पण्डितुलु पृथ्विनि लेरनि नीवेरुङ्गवे
पेद्दन की दलंचिननु बेरिमि नाकिडु कृष्णराण्णुपा’

अर्थात्, हे महाराज ! आप यह नहीं जानते कि इस पृथ्वी में पेद्दन्ना-जैसे पण्डित हैं ? इसलिए हे कृष्ण-भूपति ! उस गण्डपेण्डर को मुझे दे दीजिए।

इसके बाद कृष्णदेवराय की आज्ञा पाकर अल्लसानि पेद्दन्ना ने संस्कृत और तेलुगु में समान रूप से कविता कही। कृष्णदेवराय ने पेद्दन्ना की कविता-रीति और समय-स्फूर्ति पर मुग्ध हो उस कवि-गण्डपेण्डर को पेद्दन्ना के पैर में पहनाया और शाल, अमूल्य आभरण

इत्यादि द्वारा उनका सत्कार किया। इस प्रकार, वे महावितरणशाली नाम से विख्यात हुए।

राजा के दरबार में यदि कोई प्रवेश चाहता, अथवा उनके द्वारा सम्मान प्राप्त करना चाहता, तो पहले उन्हें परीक्षा देनी पड़ती थी। योग्य व्यक्ति पुरस्कृत होते और राज्य-सम्मान पाते थे। इस प्रकार कृष्णदेवराय का दरबार साहित्यिकों का तीर्थ बना हुआ था और साहित्यिक यात्रियों का सदा उनके यहाँ ताँता लगा रहता था।

कृष्णदेवराय ने तेलुगु और संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनका विवरण स्वयं उन्होंने अपने 'आमुक्त-माल्यदा' में दिया है। उसके अनुसार संस्कृत में 'मदालसा-चरित्र', 'सत्यभामा-परिणय' 'सकल-कथासार-संग्रह', 'ज्ञान-चिन्तामणि', 'रसमञ्जरी' और 'जाम्बवती-परिणय' नामक एक नाटक भी लिखे हैं। तेलुगु में इनका केवल 'आमुक्त-माल्यदा' महाप्रबन्ध मिलता है। तेलुगु-भाषा को ये समस्त देशी भाषाओं से श्रेष्ठ समझते थे। उन्होंने स्वयं लिखा भी है—

‘तेलुगुदेलयन्न देशम्बु तेलुगेनु
तेलुगु बल्लभुण्ड देलुगोकण्ड
येल्ल नृपुलु गोलुव नेरुगवे भासाडि
देशभाष लन्दु तेलुगु लेस्स’ (भू०, पृ० २५०)

कुछ पण्डितों का कथन है कि 'आमुक्त-माल्यदा' कृष्णदेवराय की कृति नहीं है। वे इसके पक्ष में कारण बताते हैं कि 'आमुक्त-माल्यदा' की भूमिका में 'मनु-चरित्र' काव्य में उदाहरणार्थ दिये गये कुछ पद्य मिलते हैं। इससे यह अल्लसानि पेद्दन्ना का ही हो सकता है। दूसरे पक्ष के विद्वानों का कहना है कि भगवदाज्ञा से कृष्णदेवराय ने महाकाव्य की रचना करने का निश्चय किया। काव्य के प्रारम्भ में उन्हें ग्रन्थकर्त्ता की वंशावली का वर्णन करना पड़ा। कृष्णदेवराय धीरोदात्त लक्षण-समन्वित व्यक्ति थे। इसलिए, उन्होंने स्वयं अपनी वंशावली की स्तुति करने की अनिच्छा से अपने दरबारी

कवि तथा अन्तरङ्ग मित्र पोद्दुम्मा-कृत मनु-चरित्र में वर्णित स्ववंश-वर्णन-सम्बन्धी पद्यों का ही यथावत् प्रयोग किया।

इस कृति के सम्बन्ध में एक दूसरी दन्त-कथा प्रचलित है कि कृष्णदेवराय ने अल्लसानि पेद्दुम्मा और रामराज भूषण को प्रबन्ध-काव्य रचकर लाने की आज्ञा दी। इस पर दोनों ने अपनी कृतियाँ कृष्णदेवराय की सेवा में उपस्थित कीं। दोनों का अध्ययन कर राजा ने बताया कि 'वसु-चरित्र' से 'मनु-चरित्र' प्रौढ़ काव्य नहीं है। इस पर कुपित हो पेद्दुम्मा ने 'आमुक्त-माल्यदा' की रचना की। ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा पता चलता है कि 'मनु-चरित्र' सन् १५२६-३० ई० के मध्यकाल में रचा गया है और 'वसु-चरित्र' १५७२ के बाद ही। इससे स्पष्ट है कि दोनों एक समय की रचनाएँ नहीं, अपितु दोनों के रचना-काल में काफी अन्तर है। इसी प्रकार की अनेक कथाएँ हैं, अधिकांश लोगों ने 'आमुक्त-माल्यदा' को कृष्णदेवराय का काव्य ही माना है। उस काव्य में क्षत्रियत्व भूलक रहा है। इसके अलावा मांस, मद्य इत्यादि विलास एवं सुख-भोगों का ऐसा वर्णन किया गया है, जो अन्य कवियों के लिए सम्भव नहीं है। एक राजा ही ऐसा वर्णन कर सकता है।

'आमुक्त-माल्यदा' का दूसरा नाम 'विष्णुचिन्तीय' है। 'आमुक्त-माल्यदा' का अर्थ होता है—आमुक्त = धारण किया (अपने से); माल्य = पुष्पमाला; दा = देनेवाली। पुष्पमाला धारण कर देने (लेने) वाली। यह विष्णुचिन्ता की पुत्री गोदादेवी का नाम है। इस काव्य में प्रधान रूप से गोदादेवी और विष्णुचिन्ता की कथा वर्णित है।

इस काव्य में प्रधान कथा के साथ-ही-साथ कुछ विशेष स्थानों की सृष्टि करके यमुनाचार्य-वृत्तान्त, खाण्डव्य-केशिध्वज-संवाद, चाण्डाल-ब्रह्मराक्षस-संवाद को कवि ने जोड़ दिया है। गोदादेवी, विष्णुचिन्ता की कथा तथा यमुनाचार्य-चरित्र को प्राचीन वैष्णव-गुरुचरित्र, 'गुरु-परम्परा-प्रभाव' नामक वैष्णव मताचार्य-चरित्र, से लेकर उनमें भी कुछ स्थलों में परिवर्तन करके कवि ने इसे महाकाव्य का रूप दिया है। १२७

यह उत्तम काव्य-लक्षणों से पूर्ण होते हुए अलङ्कारशास्त्र-विहित भी है। इसमें यत्र-तत्र रसराज शृङ्गार का समावेश हुआ है, परन्तु इस काव्य का प्रधान रस भक्ति-रूप में प्राप्त शान्त-रस है।

इस काव्य के प्रधान पात्र श्रीविष्णुचित्त श्रीवैष्णवों के धर्मगुरु बारह आलवारों में से एक है। तमिलनाड की जनता तो इन्हें पेरियाल्वार नाम से जानती और मानती है। पेरियाल्वार का अर्थ (पेरी = बड़ा, आल्वार = भक्त) महान् भक्त होता है। इस काव्य की कथावस्तु संक्षेप में यों है—

दक्षिणापथ के पाण्ड्य-देश में श्रीविल्लिपुत्तूर नामक एक गाँव है। उस गाँव में वटपन्नशायी (श्रीबडपेरुङ्गोलियान्) स्वामी का मन्दिर है। उस देवालय के अर्चक मुकुन्दाचार्य के पुत्र ही विष्णुचित्त है। उनकी माता का नाम पद्मा था। विष्णुचित्त के जन्म-समय में ही जातकर्म आदि संस्कारों के साथ उनका नामकरण-संस्कार किया गया। बाल्यावस्था में ही उन्हें देवविद्या आदि से परिचित कराया गया। वे विशेष विद्यासम्पन्न न होने के कारण भी श्रीमन्नारायण (विष्णु) और उनके भक्तों के प्रति विशेष भक्ति रखते थे। अपने गाँव के श्रीवटपन्नशायी स्वामी की उपासना करते और अपने पूर्वजों के द्वारा अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करते थे। विष्णुचित्त ने अपनी भूमि में नाना प्रकार के उपवृक्षों से भरा एक उद्यान लगाया था और प्रतिदिन तुलसी-पुष्प-मालिकाओं द्वारा उस भगवान् की पूजा करते थे।

उस समय पाण्ड्य-राजधानी मदुरा में राजा वल्लभदेव राज्य करते थे। वे शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रजा की राय जानने के निमित्त वेष बदलकर रात्रि के समय नगरवासियों में घूमा करते थे। एक दिन एक ब्राह्मण वृषगिरि के भगवान् के दर्शनार्थ आये और मथुरा के राजपुरोहित के यहाँ ठहरे। गर्मी के दिन थे। उसकी तीव्रता से परेशान होकर वह नये ब्राह्मण ऊपर के कक्ष में साथी ब्राह्मणों के साथ पुराण-पाठ करते थे। उस समय वेश्य-वनिता के घर जानेवाले राजा के कानों में यह श्लोक सुनाई पड़ा—

‘वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान्निशार्थमर्थं दिवसं यतेत ।

वार्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्र हेतेरिह जन्मनाय ॥’

राजा को इस श्लोक का भाव समझकर बड़ा दुःख हुआ कि परलोक-प्राप्ति के लिए आवश्यक नियम-धर्मों का पालन न करके जीवन का अधिकांश समय व्यर्थ ही गुँवाया। दूसरे दिन प्रातःकाल ही सर्व-शास्त्रार्थवेदी तथा भगवद्भक्त ‘शैलवन बि’ नामक अपने पुरोहित को आमन्त्रित किया और अपना दैन्य जताकर उनसे प्रार्थना की कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में कौन सच्चा परमात्मा है ? किसकी उपासना करने से मुक्ति प्राप्त होगी। इस पर पुरोहित ने राजा से निवेदन किया—‘राजसभा में एक स्तम्भ खड़ा करके उसके शिखर पर स्वर्ण-मुद्राओं से भरी एक थैली लटकाई जाय और समस्त प्रान्त और देशों में इस आश्रय के प्रकटन-पत्र भेजे जायँ कि जो व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, परम तत्त्व-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर मुझे प्रसन्न करेगा, वह इन स्वर्णमुद्राओं का अधिकारी होगा। यह सलाह राजा वल्लभदेव को बहुत पसन्द आई और उन्होंने वैसा ही किया। इस उपहार को जीतने और राजा को अपने तत्त्वों के प्रति विश्वास दिलाने के हेतु बौद्ध, शैव, कापालिक, शाक्त, मायावादी, वैशेषिक, सांख्य, पाशुपत आदि विभिन्न धर्माचार्य अपने शिष्यगण-समेत मदुरापुरी पहुँचे।

उसी समय श्रीविल्लिपुत्तूर में, वटपत्रशायी स्वामी के निरन्तर माला-कैङ्कर्य में निमग्न विष्णुचित्त को एक दिन रात्रि में उस स्वामी ने दर्शन दिये और कहा—‘हे विष्णुचित्त ! मदुरा-नगर के राजा वल्लभ-देव ने परतत्त्व-निरूपण करने की इच्छा से अपने आस्थान-मण्डप में एक विद्या-शुल्क-ग्रन्थि को लटकवाया है। अनेक धर्माचार्य अपने धर्मों के परतत्त्व का निरूपण कर उस धनग्रन्थि को प्राप्त करने की अभिलाषा से मदुरा जा रहे हैं। तुम प्रातःकाल तक वहाँ पहुँच जाओ और उनके कु-सिद्धान्तों का खण्डन कर हमारे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त की स्थापना करो। तुम यह मत सोचो कि तुम पण्डित ज्ञानी हो या १५६

नहीं और पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ नहीं कर सकोगे । मैं तुम्हारे जिह्वा पर रहकर तुमको समस्त शास्त्रज्ञान और वक्तृत्व-शक्ति एवं बुक्ति प्रदान करूँगा । तब वह शुल्क-ग्रन्थि कटकर नीचे गिर जायगी, और राजा तुम्हारा अनुयायी हो जायगा ।’

विष्णुचित्त ने ‘धन्योस्मि’ कहकर भगवान् की आज्ञा को शिरो-धार्य मान मदुरा के लिए प्रस्थान किया । वल्लभदेव ने विष्णुचित्त का स्वागत कर उचित आसन पर बिठाया । विष्णुचित्त ने भगवद्भक्त प्रज्ञाविशेष के कारण प्रतिवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन कर यह सिद्धान्त स्थापित किया कि श्रीमन्नारायण (विष्णु) ही पर (परमात्मा) हैं और वे ही मुक्ति-प्रदाता भी हैं । उस समय विद्या-शुल्क-ग्रन्थि स्वयं नीचे आ रही थी । प्रतिवादी सब आश्चर्यचकित हुए । राजा ने उनकी समर्थता पर प्रसन्न हो उन्हें एक हाथी पर बिठाकर उत्सव मनाया । उस समय अपने परम भक्त विष्णुचित्त के परमाभ्युदय को देखने की कामना से लक्ष्मीकान्त ने अन्तरिक्ष में गरुड़ पर आसीन हो अपने भक्त को दर्शन दिये । विष्णुचित्त ने अनेक प्रकार से अपने इष्टदेव की स्तुति की और राजाज्ञा लेकर अपने गाँव चले आये ।

विष्णुचित्त को जो शुल्क-ग्रन्थि प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने भगवान् के अर्चन आदि में खर्च किया । जब वे रिक्तहस्त हुए, तब उनकी दशा पर दया करके भगवान् ने उनके गृह को मणिमय तथा समस्त प्रकार की सम्पदाओं से समृद्ध बनाने के लिए देवशिल्पी विश्वकर्मा को आज्ञा दी ।

विष्णुचित्त प्रतिदिन की भाँति अपने आराध्य को पुष्पमालिकाएँ समर्पित कर जब अपने निवास को जा रहे थे, तब भगवान् ने लक्ष्मी से कहा—

‘यमुनाचार्यु’ डोकडु नीमहात्मु
डोकडुनु गादे मन्नतं बुद्धरिञ्चि
रस्मदीय कृपातिशयमुन ननिन

निन्दिरा देवि तन भर्त किट्टुलनिये ।—(अ० ४, पद्य ३९)

अर्थात्, यमुनाचार्य तथा विष्णुचित्त इन दोनों ने ही हमारे धर्म का उद्धार किया है। इन पर मेरी कृपा सदा सर्वदा रहेगी। इस पर इन्दिरा देवी ने अपने पति से पूछा—

इस भक्त की कहानी सुनाइए। तब भगवान् ने यमुनाचार्य का वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया—

पाण्ड्य-देश के एक राजा शैव-धर्म के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् हो, विष्णुभक्तों का अपमान किया करते थे। उनकी पत्नी विष्णु की उपासिका थी। अपने पति को भी वह वैष्णव-धर्म की ओर प्रवृत्त कराना चाहती थी। इसलिए, एक दिन एकान्त में जब राजमहिषी ने अपने प्राणपति से यमुनाचार्य का वृत्तान्त सुनाया, तब राजा ने चौंकर पूछा—‘क्या वह ब्राह्मण शास्त्रार्थ में हमारे शैव-धर्म को पराजित कर सकता है? यह तो आश्चर्य की बात है। मैं उनका सामर्थ्य देखना चाहता हूँ।’ रानी ने प्रतिहारी को आज्ञा देकर यमुनाचार्य को बुलवाया। राजा ने यमुनाचार्य की ओर मुखातिब होकर रानी से कहा—‘यदि शास्त्रार्थ में हमारे शैवाचार्य पराजित होंगे, तो मैं विभूति (भस्म) और रुद्राक्ष-मालाओं का परित्याग कर इनसे चक्राङ्कित होऊँगा और यदि ये वैष्णवाचार्य ही हार जायेंगे, तो इन्हें शैव-धर्म ग्रहण कर शैव-दीक्षा लेनी होगी।’ रानी ने राजा की समस्त शर्तों को मान लिया। यमुनाचार्य ने शैवाचार्य को तर्क में सप्रमाण उक्तियों से पराजित किया और यह सिद्ध किया कि विष्णु भगवान् ही परमतत्त्व हैं और विशिष्टाद्वैत ही सच्चा धर्म है। जब यमुनाचार्य ने इस सत्य का प्रमाण-सहित सिद्धान्तीकरण किया, उस समय राजप्रासाद के सामने स्थित पीपल वृक्ष से अशरीर-वाणी सुनाई दी—‘हे राजा! इस ब्रह्मचारी का कथन सत्य है। श्रीमन्नारायण सन्ने परब्रह्म हैं। उन्हीं की उपासना करो।’

इस पर उस पाण्ड्य-राजा ने यमुनाचार्य की महत्ता पर प्रसन्न होकर उन्हें साष्टाङ्ग नमस्कार किया और भगवत्पादारविन्द की भक्ति से पूर्ण हो उस ब्रह्मचारी को भी राज्य का हकदार माना तथा अपनी कनिष्ठा १६१

सहोदरी के साथ उसका विवाह कर दिया और दहेज के रूप में अपना आधा राज्य भी दे दिया। इस प्रकार, जब यमुनाचार्य युवराज हुए, तब पाण्ड्य-राजा ने अपने शत्रुओं को दबाने के निमित्त उन्हें भेजा।

जिस समय यमुनाचार्य दिग्विजय-यात्रा में थे, उस समय नाथमुनि के प्रशिष्य श्रीराममिश्र ने यह सोचकर कि—

‘अयस्ततो यामुनमात्मदास—

मलर्कपत्रार्पणनिष्कयेण ।

यः क्रीतवानास्थितयौवराज्यं

नमामि तं रामममेयसत्त्वम् ।’

वे भगवान् के उस पुनीत आत्मिक साम्राज्य को भूलकर भौतिक राज्य में आसक्त हो गये हैं, उन्हें ज्ञान-वैराग्य दिलाकर श्रीरङ्गम् ले गये और उनसे श्रीरङ्गनाथ की पूजा कराई। इस पर यमुनाचार्य ने अपने पुत्र को नीतिधर्म का उपदेश देकर राज्य समर्पित किया और स्वयं तुरीयाश्रम स्वीकार किया।

इधर विष्णुचित्त प्रति दिन की भाँति उद्यान फूल चुनने गये, तो वहाँ उन्हें एक शुभलक्षण-समन्वित शिशु-बालिका मिली। उसे घर लाकर विष्णुचित्त बड़े प्रेम के साथ पालने लगे। क्रमशः वह बालिका यौवनवती हुई। बचपन में ही उसका ‘गोदादेवी’ नामकरण किया गया। गोदादेवी पूर्वजन्म में भूदेवी थी। पूर्वजन्म के स्नेह के कारण ही मुरलिका, स्रग्विणी, एकावली, हरिणी आदि मनोज्ञनामधारिणी नागकन्याएँ इन्हीं गोदादेवी के साथ विल्लिपुत्तूर के ब्राह्मण-गृहों में जन्म धारण कर उनकी सखियाँ रही हैं। गोदादेवी प्रति दिन फूल चुनती, माला बनाती और पहले उसे अपने-आप धारण कर तडाग के निर्मल जल में अपने सौन्दर्य को देख मुग्ध हो जाती। भगवान् के साथ इनका प्रेम क्रमशः तीव्र होता गया। उन्हीं को अपना पति मान लिया था। विष्णुचित्त ने गोदादेवी के यौवनवती होने पर उसका विवाह करना चाहा, परन्तु गोदादेवी ने स्पष्ट रूप से बताया कि मैं भगवान् को छोड़ और किसी के साथ विवाह नहीं करूँगी।

गोदादेवी की विरहावस्था तीव्रतर होती गई। लोकानुभवहीन विष्णुचित्त भगवान् विष्णु की अनुरागिणी गोदादेवी की मनोभव वेदना को न समझ सकने के कारण दीनता के साथ भगवान् वटपत्रशायी स्वामी से निवेदन करते हैं कि गोदादेवी को उन्मादावस्था प्राप्त हुई है। विष्णुचित्त की लोकानुभवहीनता और मौग्ध्य पर हँसकर वटपत्रशायी स्वामी प्राचीन समय में भूदेवी के वहन-काल में वाराहदेव द्वारा कही हुई चाण्डाल-ब्रह्मराक्षस-संवाद (यहाँ स्थानाभाव के कारण पूरी कथा नहीं दी जा रही है) नाम की पुण्य-कथा को सुनाकर कहते हैं कि 'तुम्हारी पुत्री पूर्वजन्म में धात्री-सुता थी। उस समय उसने सुना था कि समस्त पूजोपचारों में मुझे गायन ही अत्यन्त प्रिय है, और वह विशेष फल प्रदान करनेवाला है, इसलिए इसी भव में वैष्णवी के रूप में जन्म ग्रहण कर वह अपनी अनुरागप्रियता को न दबा सकने की स्थिति में इस प्रकार गानों (गीत-भजन) द्वारा मेरी स्तुति कर रही है। तुम उसे श्रीरङ्गनाथस्वामी के सान्निध्य में ले जाओ, तुम्हारा शुभ होगा।' वटपत्रशायी के आदेशानुसार विष्णुचित्त गोदादेवी को श्रीरङ्गनाथस्वामी के पास ले गये। रङ्गनाथस्वामी ने गोदादेवी को अपनाकर एक मायाविनी को विष्णुचित्त के घर भेज दिया। पर, वह शीघ्र ही अन्तर्धान हो गई। इस पर विष्णुचित्त विलाप करने लगे—'यदि भगवान् सच्ची बात मुझसे कहते, तो मैं ही सन्तोषपूर्वक उसका विवाह करता। इसके अलावा अनेक पत्निपों के रहते मेरी पुत्री (साधारण मर्त्यलोक की स्त्री) को ग्रहण कर मेरा अपमान करना चाहते हैं?' इस पर भगवान् ने कहा—'तुम अपनी पुत्री को घर पर छोड़कर यहाँ क्या ढूँढ़ रहे हो।' अन्त में विष्णुचित्त को गोदादेवी घर पर मिली। रङ्गनाथस्वामी ने सरस्वती, पार्वती, ब्रह्मा और रुद्र द्वारा विष्णुचित्त की पुत्री के साथ विवाह की बात पक्की कर ली। विष्णुचित्त ने अमित आनन्दित हो इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया। रङ्गनाथस्वामी गरुड़ पर सवार हो आये। विष्णुकर्मा ने विष्णुचित्त के घर को स्वर्णमय बनाया। महावैभव के साथ विवाह

सम्पन्न हुआ। रङ्गनाथ ने गोदादेवी के कण्ठ में मङ्गलसूत्र बाँधा। गोदादेवी पुलकित हो उठी। यही कथावस्तु है।

काव्य के कथानक की गोदादेवी तमिल में आण्डाल नाम से प्रसिद्ध है। आण्डाल ने विष्णु की स्तुति में जो गीत गाये, वे तिरुप्पावै नाम से विख्यात हैं। उन गीतों को आज भी तमिलनाडु में धनुमसि के व्रत के समय गाया जाता है। इस समय बहुत-सी गोष्ठियाँ होती हैं, उनमें विद्वान् इन गीतों का पाठ करते हैं और व्याख्यान भी देते हैं। प्रतिदिन एक गीत की व्याख्या भी होती है।

साहित्यिक दृष्टि से 'आमुक्त—माल्यदा' प्रौढ़ महाकाव्य माना जाता है। महाकाव्य के समस्त लक्षणों से पूर्ण तेलुगु-काव्यों में यह भी एक है। इसमें पुर, सिन्धु, नग, ऋतु, शशि, सरसी, वन, विरह, परिणय, दौत्य इत्यादि के वर्णन अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। प्रकृति-वर्णन में तो कहीं-कहीं कवि सीमा को पार कर गये हैं। राजनीति और धर्म के वर्णन में अपनी राजनीतिक कुशलता का कवि ने इसमें अच्छा परिचय दिया है। ग्रामीण कन्याओं का परिहास, मछली पकड़ना, तडाग, हिरन और पनघट पर से पानी ले जानेवाली पनिहारिनों का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक वर्णन हुआ है। चरित्र-चित्रण, जनपद-जीवन, इस काव्य की सुन्दर विशेषताएँ हैं। शैली अत्यन्त गम्भीर और प्रौढ़ है। यह काव्य वर्णन-प्रधान अधिक है। तेलुगु के पञ्चकाव्यों में कृष्णदेवराय की तत्कालीन समाज-व्यवस्था वर्णन करने की रीति अद्वितीय मानी जाती है। कृष्णदेवराय के तेलुगु और संस्कृत दोनों भाषाओं के पाण्डित्य का परिचय इसमें मिलता है। यह एक उत्तम व्यङ्ग्यप्रधान काव्य है। शैली ओजःपूर्ण है। दीर्घ समासों की अधिकता होने के कारण साधारण पाठक इसका रसास्वादन नहीं कर सकता है। इसमें पुर (नगर)-वर्णन, चातुर्वर्ण्य-वर्णन, ऋतु-वर्णन और विवाह-वर्णन अत्यन्त मुख्य हैं। और, ये कहीं तो अद्भुत बन पड़े हैं। ग्रीष्म, वर्षा और शरद्-ऋतुओं का ऐसा वर्णन और किसी काव्य में नहीं

मिलेगा। अद्भुत काव्य-चमत्कार और सुन्दर कल्पनाएँ इस काव्य की महत्ता में चार चाँद लगा रहे हैं।

विषय की दृष्टि से भी हमें मालूम होता है कि महाकवि का न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योगतन्त्र आदि से अच्छा परिचय है। इस काव्य के श्रेष्ठ होने का उज्ज्वल उदाहरण इसमें उपमा, स्वभावोक्ति उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान् और परिसंख्या अलङ्कारों का अच्छा निरूपण ही है।

कथा, विषय, छन्द, अलङ्कार, शैली इत्यादि के समस्त प्रकार के लक्षणों से युक्त यह काव्य अपने ढंग का अद्वितीय है और है श्रीकृष्णदेव-राय के पाण्डित्य और विद्वत्ता का अनुपम निदर्शन।



युगनिर्माता वीरेशलिङ्गम्

वीरेशलिङ्गम् पन्तुलु के पूर्व तेलुगु-साहित्य में केवल काव्य-साहित्य की भरमार थी, परन्तु दृश्य और पद्य-काव्य तेलुगु में प्रायः नहीं के बराबर थे। पन्तुलुजी ने साहित्य के सभी अङ्गों को समृद्ध किया। इसलिए, आन्ध्र को वीरेशलिङ्गम् पन्तुलु पर गर्व है। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो कार्य किया, वह तेलुगु-साहित्य में वीरेशलिङ्गम् पन्तुलु ने अकेला ही किया है।

वीरेशलिङ्गम्जी बचपन से ही तेलुगु-साहित्य के प्रति अभिरुचि रखते थे। अध्ययन-काल में ही बालक वीरेशलिङ्गम् ने तेलुगु-छन्दः-शास्त्र का थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त किया और प्रकृति-प्रदत्त अपनी प्रतिभा के बल पर कविता करना प्रारम्भ किया। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ 'मार्कण्डेय-शतक' और 'गोपाल-शतक' हैं। शतक में एक सौ अथवा एक सौ तेरह पद्य होते हैं और चौथे चरण में मुकुट होता है। वीरेशलिङ्गम् की उपर्युक्त दोनों रचनाओं की बड़ी प्रशंसा हुई, इससे प्रोत्साहित होकर बालक वीरेशलिङ्गम् ने 'शुद्धान्ध्र निरोध्य निर्वचन नै सुधमु' की रचना की, इससे उनकी ख्याति चतुर्दिक् फैल गई। यह काव्य तेलुगु-साहित्य का एक अमूल्य रत्न बन गया। शुद्ध तेलुगु में रचना करना उस समय इतना ही कठिन समझा जाता था, जितना कठिन भारतेन्दु या द्विवेदी-युग में खड़ी बोली में रचना करना। इनकी महत्ता को पहचानकर विश्वविद्यालयवालों ने इसे बी० ए० परीक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तक नियत किया।

वीरेशलिङ्गम्जी इस अल्प ख्याति से सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। उनकी साहित्यिक साधना बराबर चलती रही। कुछ दिन बाद 'रसिक-जनमनोरञ्जनम्' नामक एक दूसरा ग्रन्थ उपस्थित किया। इस काव्य में पन्तुलुजी की प्रतिभा और पाण्डित्य देखते ही बनता है। इसमें नल-दमयन्ती का विवाह वर्णित है।

उनकी पाँचवीं कृति 'शुद्धान्धोत्तर-रामायण' है। इसे पूरक काव्य कहना अधिक उचित होगा। परन्तु इसे स्वतन्त्र काव्य भी कहा जा सकता है। पूरक काव्य यह इसलिए है कि वीरेशलिङ्गम् से पहले ही 'कूचिमचि तिममकवि' ने 'अच्च तेलुगु-रामायण' (शुद्ध तेलुगु-रामायण) की रचना की थी। परन्तु उसमें उन्होंने उत्तरकाण्ड नहीं लिखा था। उसके पूरक के रूप में वीरेशलिङ्गम्जी ने शुद्ध तेलुगु में ही उत्तरकाण्ड लिखा। यह पूरक होते हुए भी स्वतन्त्र काव्य के सभी लक्षणों से पूर्ण होने के कारण इसे स्वतन्त्र काव्य का गौरव दिया जा सकता है। इसके उपरान्त पन्तुलुजी ने हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ महाभारत की कथा को काव्य-वस्तु बनाकर 'भारत-संग्रह' नाम से एक काव्य-पुस्तक प्रस्तुत की। इसकी शैली अधिक सरस और सुन्दर है।

अब तक ये संस्कृत के पौराणिक तथा धार्मिक ग्रन्थों के विषयों को कथावस्तु बनाकर रचना करते रहे थे। फिर, उनका ध्यान अँगरेजी-साहित्य के उत्तम ग्रन्थों की ओर गया। अँगरेजी-साहित्य में ख्याति-प्राप्त कवि गोल्डस्मिथ की प्रसिद्ध रचना 'दि ट्रैवलर' का तेलुगु में 'पथिक-विलास' नाम से अनुवाद किया।

पन्तुलुजी ने सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की है। उनकी गणना करना कठिन मालूम होता है। शिक्षक होने के कारण वे विद्यार्थियों को भी न भूल सके। उनके उपयोग के लिए भी अनेक पुस्तकें रचीं। इनमें पन्तुलुजी की प्रथम और श्रेष्ठ रचनात्मक कृति 'संग्रह-व्याकरण' कही जा सकती है। तेलुगु में सरल और सुबोध व्याकरण का सर्वथा अभाव था। इसकी पूर्ति के लिए विशेष करके एक अच्छा व्याकरण १६७

तैयार किया। इसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता को दृष्टि में रखकर सरकार ने इसे पाठ्य-पुस्तक नियत किया।

पन्तुलुजी विद्यार्थियों को भावी भारत के नागरिक समझते थे। अतः, उनके चरित्र को उज्ज्वल बनाना शिक्षक का प्रधान कर्तव्य मानते थे। वे शिक्षा का प्रधान उद्देश्य विद्यार्थियों को चरित्रवान् तथा योग्य बनाना मानते थे। अतः, विद्यार्थियों के चरित्र को पवित्र बनाने के हेतु पन्तुलुजी ने 'नीति-दीपिका' नामक एक सुन्दर पद्य-काव्य लिखा। इस प्रकार, पन्तुलुजी योग्य शिक्षक के रूप में भी विख्यात हुए।

अनेक काव्य रचने के उपरान्त पन्तुलुजी के मन में गद्य-साहित्य की सेवा करने की प्रेरणा हुई। उसी क्षण 'शुद्धान्ध्र-महाभारत' की रचना को छोड़कर गद्य लिखना प्रारम्भ किया। उस समय तक तेलुगु में एक मात्र उल्लेखनीय गद्य-पुस्तक चित्रय सूरि की 'नीति-चन्द्रिका' थी। तेलुगु में गद्य-साहित्य का अभाव उन्हें खटकने लगा। अतः, नीति चन्द्रिका के कुछ अंश लेकर सन् १९७४ ई० में 'विग्रह' नाम से एक गद्य-पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक की सर्वत्र बड़ी प्रशंसा हुई।

इस पुस्तक के प्रकाशन से पन्तुलुजी को जो सम्मान और यश प्राप्त हुआ, उससे उत्साहित होकर 'नीति-चन्द्रिका का संघ' प्रकरण भी पूरा किया।

पन्तुलुजी तेलुगु, संस्कृत और अंगरेजी के प्रकाण्ड पण्डित थे। अंगरेजी पर इनको असाधारण अधिकार प्राप्त था। तेलुगु-साहित्य-भाण्डार को अन्य भाषा के उत्तम ग्रन्थों के अनुवाद से समृद्ध बनाने के उद्देश्य से उन्होंने 'जान गिल्पिन' नामक अंगरेजी-ग्रन्थ का तेलुगु पद्य में 'अभागोपाख्यान' नाम से अनुवाद किया। यह एक हास्य-रस-प्रधान प्रबन्ध है।

इसके उपरान्त अंगरेजी-साहित्य के विश्व-विख्यात लेखक गोल्डस्मिथ के 'विकास ऑफ् वेकफील्ड' ग्रन्थ को तेलुगु में अनूदित १६८ करना चाहा। परन्तु, बाद में अपना निर्णय बदल दिया और उसको

स्वतन्त्र रूप देने के उद्देश्य से उस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण स्थलों एवं भावों को लेकर राजशेखर-चरित्र नाम से उपन्यास तैयार किया। इस पुस्तक के सम्बन्ध में मद्रास के प्रसिद्ध अँगरेजी-दैनिक पत्र 'हिन्दू' ने लिखा था—“राजशेखर-चरित्र’ ने तेलुगु-साहित्य में एक नया युग का श्रीगणेश किया है।” यह पुस्तक तेलुगु का प्रथम उपन्यास माना जाता है। यहीं से तेलुगु-उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश होता है और वीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी प्रथम उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि फिर से इस पुस्तक का ‘भाग्यचक्र’ नाम से अँगरेजी में अनुवाद हुआ। सर्वत्र इस पुस्तक की बड़ी ख्याति हुई और ‘लण्डन टाइम्स’ ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। बाद में तमिल, कन्नड और मलयालम भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ।

वीरेशलिङ्गम्जी ने साहित्य का प्रयोजन समाज का कल्याण माना। ये भली भाँति यह जानते थे कि जन-मन को बदलने और शुद्ध करने के लिए कला में जैसा सामर्थ्य है, वैसा सामर्थ्य नेताओं के उपदेश में अथवा प्रचार में नहीं है। समाज का कल्याण तभी सम्भव है, जब जनता में जड़ जमाये हुए अन्ध-विश्वासों को आमूल उखाड़ फेंका जाय और हृदय-परिवर्तन कर सकनेवाला साहित्य रचा जाय। जनता की अन्ध-रूढ़ियों पर निर्दयतापूर्वक प्रहार किया जाय, तो उनमें परिवर्तन नहीं होगा, बल्कि उनके हृदयों को छूनेवाली घटनाओं का साहित्य में समावेश कर उन रूढ़ियों से होने-वाली हानियों की ओर सङ्केत करना, तथा हृदय में पैठनेवाली अच्छी भावनाओं को, जो उन रूढ़ियों के दूर करने में समर्थ हो, कथावस्तु के मूल में बैठाना आवश्यक है। साहित्यकार अपनी भावनाओं के द्वारा जनता के मन पर शासन करता है और जन-मन का परिष्कार भी। इसलिए, जनता की चित्तवृत्तियों को समझकर रचनाएँ करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि साहित्य से समाज का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तो वह केवल अरण्य-रोदन होगा। कला कला के लिए माननेवाले भी साहित्य में ‘सत्य’, ‘शिव’ और ‘सुन्दरम्’ का समावेश

चाहते हैं। शिवं तभी सम्भव होगा, जब जनता का कल्याण हो। इसलिए, उपर्युक्त अभाव की पूर्ति के लिए समाज की नब्ज को परख-कर सरल शैली में हास्य-रस-प्रधान रचनाएँ करना पन्तुलुजी ने प्रारम्भ किया। पहले इन्होंने बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा कन्या-शुल्क-रूपी महान् रोगों को दूर करने के लिए 'ब्राह्म विवाह' नामक एक प्रहसन लिखा। इसी प्रकार की एक दूसरी पुस्तक व्यावहारिक भाषा में 'व्यवहार-प्रोधिनी' नाम से लिखी।

इसके उपरान्त नाटक का प्रदर्शन गाँव-गाँव में होने लगा। जनता में नाटक देखने की रुचि को बढ़ते देख वीरेशलिङ्गम्जी नाटक की ओर प्रवृत्त हुए। सन् १८८० ई० में पन्तुलुजी ने 'श्रीहर्षचरित-रत्नावली' नामक संस्कृत-नाटक का तेलुगु-चम्पू-काव्य के रूप में अनुवाद किया। इस नाटक का धारवाड़-कम्पनीवालों ने सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया। फिर, विश्वविख्यात अँगरेजी-नाटककार शेक्सपियर का 'कामेडी ऑफ़ एरेक्स' नाटक का अनुवाद किया। इन दोनों नाटकों का सफल प्रदर्शन किया गया। इससे वीरेशलिङ्गम्जी की बड़ी ख्याति हुई। इसके बाद शेक्सपियर को एक दूसरे नाटक 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' को 'विनीमु वर्त्तक चरित्र' नाम से लिखा। इसके साथ स्त्रीपुनर्विवाह-आन्दोलन को बल प्रदान करने के निमित्त 'विवेक-दीपिका' नामक तीन अङ्कोंवाला एक और भी नाटक लिखा। हिन्दी-साहित्य में प्रथम संस्कृत-नाटकों के अनुवाद से नाटक-साहित्य का श्रीगणेश हुआ है। परन्तु, तेलुगु में तो इसके पूर्व कुछ प्रहसन, तथा एक-आध अँगरेजी-नाटकों का अनुवाद हो गया था। संस्कृत-साहित्य का अनमोल रत्न कालिदास-प्रणीत 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' माना जाता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने इसी नाटक को सर्वप्रथम हिन्दी में अनुवाद किया और वे प्रथम नाटककार माने गये। परन्तु, वीरेशलिङ्गम्जी ने इसके पूर्व भी अनेक नाटक लिखे थे। 'शकुन्तला-नाटक' का अनुवाद इतना अच्छा बन पड़ा कि वह एक मौलिक नाटक ही मालूम होने लगा।

प्रह्लाद की जीवनी को प्रह्लाद-नाटक नाम से लिखा। इस नाटक का अनेक स्थलों में प्रदर्शन हुआ। इनके भी नाटक प्रदर्शन के योग्य हैं,

यही इनकी बड़ी विशेषता है । फिर प्रबोधचन्द्रोदय, मालविकाग्नि-मित्रम् आदि नाटक भी रचे हैं । अँगरेजी-नाटककार शेरीडन के 'इयूयाना' नाटक के आधार पर 'रागमञ्जरी' नाटक लिखा ।

पन्तुलुजी ने जहाँ संस्कृत और अँगरेजी-नाटकों का अनुवाद किया और अनुकरण पर नाटक रचे, वहाँ अनेक मौलिक नाटक भी लिखे । इसका ज्वलन्त उदाहरण इनका 'दक्षिणा-गोग्रहण' नाटक है । पाँच अङ्कोंवाले इस नाटक ने बड़ी प्रसिद्धि पाई । इनके नाटकों में सम्भाषण ही नहीं, पद्य भी है ।

पन्तुलुजी के मौलिक नाटकों में 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है । इसमें करुण-रस की अधिक प्रधानता है । हरिश्चन्द्र और चन्द्रमती (शैव्या) का चरित्र-चित्रण बहुत ही अच्छा बन पड़ा है ।

सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के लिए इन्होंने 'तिर्यगिषद्वन्महा-सभा' और 'महारण्य-पुराधिपत्यम्' नामक दो स्वतन्त्र हास्य-प्रधान नाटकों की रचना की है । उनके सम्भाषण पढ़ते ही पाठक लोट-पोट हो जाते हैं । उनमें मार्मिक व्यङ्ग्य भी छिपा हुआ है ।

पन्तुलुजी का अन्तिम नाटक शेरीडन के 'दि रैक्स' का तेलुगु-अनुवाद 'कल्याणकल्पवल्लि' नाम से प्रकाशित हुआ है । इस नाटक के द्वारा भी वीरेशलिङ्गम्जी को काफी यश मिला । इनकी कृतियों को देखते हमें आश्चर्य होता है, कि एक सङ्घ-संस्कर्ता के पास, जो सदा सामाजिक सुधार-सम्बन्धी कार्यों में लगे हुए थे, समय ही कहाँ था ? इस प्रश्न-चिह्न का उत्तर हम पा ही नहीं सकेंगे ।

पन्तुलुजी के समय देश-भर में अशिक्षा का जोर था । स्त्रियों की स्थिति तो और भी दयनीय हो गई थी । उन दिनों रूढ़िवादियों द्वारा यह प्रचार किया जा रहा था कि 'स्त्री के शिक्षिता होने पर वह चरित्रभ्रष्टा हो जाती है ।' इसके विरुद्ध पन्तुलुजी ने आवाज उठाई । उनका आशय था कि स्त्री के शिक्षिता होने पर अज्ञान दूर होगा, तथा दाम्पत्य-जीवन अधिक सुखमय होगा । वे यह नहीं चाहते थे कि १७१

स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर केवल नौकरियाँ ही करें। उपर्युक्त आशय की सिद्धि के लिए तथा स्त्री-शिक्षा-आन्दोलन को अधिक फैलाने के निमित्त पन्तुलुजी ने राजमहेन्द्री तथा धवलेश्वरम् में कन्या-पाठशालाएँ स्थापित कीं और रूढ़िवादियों के विरुद्ध आन्दोलन का मुँहतोड़ जवाब इस प्रकार दिया—‘सभी प्रकार के अच्छे पदार्थों का भी यदि हम उचित रूप से उपयोग करना नहीं जानते हैं, तो उनसे हानियाँ भी होती हैं। ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को अन्न देने से गेट में विकार अथवा दर्द पैदा होता है। इस कारण, स्वस्थ लोगों को भी अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह कहना कहाँ तक बुद्धिमानी है? कहीं एक-ग्राध महिला ने अपनी शिक्षा का प्रेम-पत्र लिखने में दुरुपयोग किया हो, तो वहाँ अशिक्षिता स्त्रियों ने अज्ञानवश चाकू से गला काट लिया होगा अथवा कुएँ में कूदकर आत्महत्या की होगी। इस कारण, सर्वश्रेष्ठ एवं शुभदायिनी शिक्षा विद्या नहीं सीखनी चाहिए अथवा प्राणाधार जल देनेवाले कुएँ को मिट्टी से मर देना चाहिए—कहना न्यायसङ्गत नहीं होगा। चाकू से जहाँ अनेक लाभ हैं, वहाँ हानियाँ भी हैं। अतः, उनकी उपयोगिता को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। पन्तुलुजी ने महिलाओं में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के विचार से ‘सती-हित-बोधिनी’ नामक पत्रिका भी चलाई। पन्तुलुजी ने पत्रिका के द्वारा लोक-ज्ञान, आरोग्य-विधि, शिशु-पोषण तथा पारिवारिक शिक्षा का प्रचार किया। पत्रिका द्वारा प्राप्त आंशिक ज्ञान को पक्का करके उच्च शिक्षा, तथा चरित्र को पवित्र बनाये रखने के लिए पन्तुलुजी ने आवश्यक साहित्य का सर्जन किया। इसके लिए ‘सत्यवती-चरित्र’ नामक सुन्दर पुस्तक लिखी, जो बहुत ही लोकप्रिय हुई, इसकी प्रामाणिकता का प्रबल प्रमाण उसका अँगरेजी, तमिल तथा कन्नड-भाषाओं में अनूदित होना ही है।

इसके उपरान्त स्त्रियों में धर्म, नीति तथा चरित्र-सम्बन्धी प्राथमिक ज्ञान के प्रचार के लिए सन् १८८४ ई० में ‘चन्द्रमती देवी-चरित्र’ लिखा। फिर, ‘सत्य-सञ्जीवनी’ लिखा। इस नीतिपूर्ण ग्रन्थ में

असत्य के द्वारा होनेवाले अनर्थों को सोदाहरण जन-मन में बैठाने का सफल प्रयत्न किया। फिर विदेशी नारियों में ख्यातिप्राप्त आदर्श-चरित्र 'ग्रस डालिङ्ग', 'जोन ऑफ् आर्क', 'ऐलिसबेथ ग्रे', 'लेडी जेन ग्रे' आदि की जीवनियाँ 'उत्तम स्त्री-चरित्र' नाम के प्रथम भाग में प्रकाशित कीं।

इससे ही पन्तुलुजी सन्तुष्ट नहीं रहे। सामाजिक कुरीतियों तथा स्त्री-शिक्षा-विहीनता के प्रति मार्मिक व्यङ्ग्य करते हुए 'सत्यराज पूर्व-देशयात्रा' नामक गद्य-पुस्तक लिखी, जो अंगरेजी की 'गलिवेर्स ट्रावल्स' नामक पुस्तक के ढंग पर है। उपर्युक्त पुस्तक के पूरक के रूप में 'लङ्का-यात्रा' नामक एक दूसरी पुस्तक लिखी, जिसका कन्नड-अनुवाद हुआ। इनमें यात्रा-वृत्तान्तों का मनोरञ्जक वर्णन पढ़ने योग्य है। महिलोपयोगी अनेक पौराणिक गाथाओं में प्रसिद्ध नारी-रत्नों की जीवनियाँ ही नहीं लिखीं, बल्कि 'विक्टोरिया महारानी' की जीवनी चित्रों-सहित प्रकाशित की। फिर, 'ईसप फेबिलस' नामक ग्रन्थ के आधार पर 'नीति-कथा-मञ्जरी' नाम से दो भागों में अनेक नीतिपूर्ण कथाएँ छापीं। प्रत्येक कथा के अन्त में उसका सारांश संक्षिप्त रूप से पद्यों में बताया गया है।

महिलाओं को धर्म और नीति का प्रज्ञान कराने के लिए पन्तुलुजी ने 'स्त्री-नीति-दीपिका', 'पत्नी-हित-सूचना', 'सती-हित-बोधिनी', 'देहारोग्य-धर्म-बोधिनी', 'मातृ-पूजा', 'पितृ-पूजा', 'सत्याद्रौपदी-संवादम्', 'सतीमणि-विजयम्', 'चमत्कार-रत्नावली', महाकवि शेक्सपियर-कृत 'नाटक-कथाएँ' आदि असंख्य महिलोपयोगी पुस्तकें लिखीं।

पन्तुलुजी स्त्रियों को केवल धर्म, नीति, चरित्र तथा उपदेश देनेवाली पुस्तकों की रचना में ही नहीं लगे रहे, बल्कि उन्हें लोक-ज्ञान का प्रकाश देने के लिए प्रकृति का ज्ञान कराना भी आवश्यक समझा। अतः, प्रोफेसर हाकीसली की 'फिज़ियोलॉजी' पुस्तक के आधार पर 'मानव-शरीर-शास्त्र' नामक पुस्तक प्रस्तुत की, जिससे उन्हें शरीर-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सुविधा मिली। इसके साथ १७३

पन्तुलुजी की रचित 'पदार्थ-विवेक-शास्त्र' तथा 'ज्योतिःशास्त्र-संग्रह' नामक पुस्तकें भी बहुत मूल्यवान् एवं लाभदायक सिद्ध हुईं। तदनन्तर शास्त्र-रचना के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करके विशेष परिश्रम के साथ 'भौतिक भूगोल-शास्त्र' तथा 'जन्तु-स्वभाव-शास्त्र' नामक उत्तम ग्रन्थों का सर्जन किया।

पन्तुलुजी के हृदय में प्रारम्भ से ही साहित्य के सभी अङ्गों को पुष्ट करने की उत्कण्ठा थी। काव्य की रीतियों पर कलम चलाकर लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण करना भी उतना ही आवश्यक माना और 'अलङ्कार-संग्रह' नाम से एक पुस्तक ही लिख डाली। फिर तर्क-शास्त्र की ओर मुड़े और 'आन्ध्र-तर्क-संग्रह' रचना का श्रीगणेश किया, किन्तु उसे पूरा नहीं कर पाये।

वीरेशलिङ्गम्जी ने समय-समय पर सभा-समाजों में जो भाषण दिये और पत्रिकाओं में जो रचनाएँ प्रकाशित कीं, उन्हें 'हास्य-सञ्जीवनी' और 'उपन्यास-मञ्जरी' (व्याख्यान-मञ्जरी) नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया। अंगरेजी-रचनाओं के आधार एवं अनुकरण पर इन्होंने जो प्रहसन बनाये, उनमें से 'अपूर्व ब्रह्मचर्य-प्रहसन', 'विचित्र विवाह-प्रहसन', 'महावधिर-प्रहसन', 'पुनर्मरण-प्रहसन', 'महावञ्चक-प्रहसन', 'योगनिद्रा-प्रहसन' आदि प्रहसन मुख्य माने जाते हैं। इसके अलावा इनके स्वकल्पित प्रहसनों में 'कलिपुरुष-शनैश्चरविलास', 'वैश्याप्रिय-प्रहसन', 'कौतुक-वर्द्धिनी', 'विनोद-तरङ्गिणी' अधिक विख्यात हुए हैं। उपर्युक्त सभी प्रहसन हास्य-रस के भाण्डार हैं। इनसे लोगों का मनोरञ्जन भी होता है और ज्ञान भी प्राप्त होता है। इन रचनाओं को पढ़ने पर हम वीरेशलिङ्गम्जी को 'हास्य-सम्राट्' कहे बिना नहीं रह पायेंगे। सभी रसों में सफलतापूर्वक रचनाएँ करने में पन्तुलुजी सिद्धहस्त थे। पन्तुलुजी राजनीतिक आन्दोलनों में भी भाग लेते रहे। इस प्रकार, अर्जित १७४ ज्ञान के आधार पर इन्होंने 'देशीय राज्यों का इतिहास' लिखा।

पन्तुलुजी ने अनेक महापुरुषों की जीवनियाँ लिखकर सफल जीवनी-लेखक की ख्याति भी प्राप्त की। इनकी लिखी जीवनियों में 'जीसस' और 'राजा राममोहनराय का चरित्र' उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक विषयों पर भी पन्तुलुजी ने दक्षता के साथ कलम चलाई। इनके धर्म-सम्बन्धी लेख 'सत्यवादिनी' नामक पत्र में प्रकाशित हुए थे। उनमें से 'अद्वैत-मत-संग्रह', 'विशिष्टाद्वैत-मत-संग्रह' और 'द्वैत-मत-संग्रह' नाम के तीन लेखों को 'सत्यवादिनी' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित भी किया।

वीरेशलिङ्गम्जी की साहित्य-सेवा में अति अद्भुत और स्थायी कार्य 'आन्ध्र-कबुल-चरित्र' कहा जा सकता है। बहुत समय तक तीव्र हृदय-मन्यन के उपरान्त पन्तुलुजी ने निश्चय किया कि तेलुगु-साहित्य के आरम्भ से आज तक के कवियों तथा उनकी कृतियों का सम्पूर्ण परिचय आन्ध्र-भारतीय के चरणों में समर्पित करें। इसके पूर्व 'तेलुगु-साहित्य का समग्र इतिहास' प्रस्तुत करने के विचार से आवश्यक सामग्री जुटाने के निमित्त आन्ध्र-देश और साहित्य से सम्बन्धित शिला-लेख, सिक्के, ताम्रपत्र, पाण्डुलिपियाँ, काव्य, इतिहास आदि का संग्रह और अध्ययन किया। प्राच्य लिखित पुस्तक-भाण्डार में जाकर अनेक विषयों का संग्रह भी किया। उनको इतिहास का रूप देनेवाले ही थे कि उनका विचार बदल गया और केवल कवियों का इतिहास ही प्रस्तुत कर सके। इस कवियों के इतिहास को पन्तुलुजी ने तीन मुख्य भागों में बाँट दिया, जो इस प्रकार हैं—१०वीं शती से सन् १४५० ई० तक के कवियों को पूर्व कवि, सन् १४५१ से १६५० ई० तक के कवियों को मध्य कवि और सन् १६५१ ई० से आज तक के कवियों को आधुनिक कवि।

इनका यह शाश्वत और उत्तम कार्य बाद में तेलुगु-साहित्य का इतिहास लिखनेवालों के मार्ग को अधिक सुगम और सरल बना सका। इनके लिखे कवि-परिचय अत्यन्त प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण हैं। कवि-परिचय में पन्तुलुजी ने कवियों की निष्पक्ष होकर समालोचना की है। १७५

इनके समालोचना-साहित्य के कार्य को देख पन्तुलुजी को आन्ध्र का रामचन्द्र शुक्ल कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। 'सरस्वती-नारद-विलाप' नाम से एक गद्य-संग्रह लिखा। इसमें सरस्वती और नारद के वार्तालाप द्वारा कु-कवियों के काव्य के गलत प्रयोग—यमक, श्लेष आदि के दोषों पर तीखा व्यङ्ग्य किया है। इससे पन्तुलुजी साहित्य और भाषा के परिष्कारक के रूप में भी हमारे सामने आते हैं।

पन्तुलुजी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य जीर्णावस्था में पड़ी हुई पाण्डुलिपियों का सम्पादन करके उनके प्रकाशन का प्रबन्ध करना भी है। प्राचीन समय के अनेक उत्तम तेलुगु-ग्रन्थों, जो ताल-पत्रों पर लिखे गये थे और यत्र-तत्र जीर्णावस्था में पड़े हुए थे तथा दीमकों का भोजन बनते जा रहे थे, का पन्तुलुजी ने पता लगाया एवं परिश्रम करके उनका संग्रह किया। ग्रन्थों के जो अंश नष्ट हो चुके थे, उन भागों को उसी भाषा और शैली में इतनी सुन्दरता से पूरा किया कि पाठक को पता ही नहीं चलता कि पन्तुलुजी किस अंश को जोड़ा अथवा पूरा किया। प्राचीन समय की भाषा, शैली और छन्दों पर अधिकार प्राप्त कर उसी रूप में उनकी पूर्ति करना कैसा कठिन और असाधारण कार्य था, पाठक स्वयं सोच सकते हैं। इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ सैकड़ों की संख्या में पन्तुलुजी को उपलब्ध हुईं। उनमें बीस काव्य तो आन्ध्र-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। कवयत्री मल्ल-विरचित 'रामायण', पिगली सूरन्ना का 'प्रभावती-प्रद्युम्न', काकुमानी मूर्ति कवि की 'पाञ्चाली-परिणय', अय्यलराजु रामभद्रकवि-रचित 'उत्तरहरिवंशम्', चारिगोंड धर्मन्ता का 'चित्र-भारतम्', नारायण कवि का 'पञ्चतन्त्रम्', मादर्यगारि मल्लना-रचित 'राजशेखर-चरित्रम्', केतन-कृत 'आन्ध्रभाषाभूषणम्', अखिदमु सूखा-कृत 'कविसंशय-विच्छेदम्', शङ्कर कवि-प्रणीत 'प्रबोध चन्द्रोदय' और 'जैमिनी-भारतम्', सिंहाद्रि वेङ्कटार्य-कृत 'चमत्कार-मञ्जरी', नन्दि मल्लय्या और छंट लिङ्गय्या (कविहृदय)-प्रणीत-प्रबोधचन्द्रोदय' केतना-कृत 'दशकुमार-चरितम्', तेनाली अन्नय्या-रचित 'सुदक्षिणा-परिणयम्', अनन्तामात्युनी-

कृत 'भोजराजीयमु', नन्दिमल्लय्या तथा घण्डासिगम्या-विरचित 'वराह-पुराणमु' आदि साहित्यिक कृतियाँ अधिक महत्त्व-प्राप्त काव्य-रत्न हैं। उपर्युक्त पुस्तकों के अलावा पन्तुलुजी के पास अनेक पाण्डुलिपियाँ रह गईं। इन्हें भी वे प्रकाश में लाना चाहते थे। परन्तु, समयाभाव के कारण इनका नाश होते देख अप्रकाशित अवस्था में ही इन्हें उन्होंने अपने एक मित्र को दे दिया।

तेलुगु-साहित्य को पन्तुलुजी ने जीवन-भर की अपनी अमूल्य सेवाओं से अत्यन्त समृद्ध बनाया। इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करने पर भी वे अत्यन्त विनयी थे। उनकी विनयशीलता को उन्हीं के शब्दों में देखिए—'प्रथम प्रयत्न सदा प्रथम प्रयत्न ही होता है। अतः, उसमें दोषों का होना स्वाभाविक है। हमारी उन्नति अपने किये हुए दोषों पर ही निर्भर है। परन्तु, मेरी कृतियाँ भावी साहित्यकारों की पुस्तक-रचना में सहायक सिद्ध हो सकेंगी।' 'गद्य-पितामह' नाम से विख्यात पन्तुलुजी अपने महान् कार्यों से तृप्त नहीं हुए। उन्होंने अपने अन्तिम समय में और भी अधिक सेवा करने की उत्कण्ठा प्रकट की और यह सन्देश सुनाया—'मुझे अपने जीवन में और भी अनेक कार्य करने थे। उनकी पूर्ति किये बिना ही मुझे इस विश्व से सदा के लिए नाता तोड़ना पड़ रहा है। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरे अनुचर, मित्र एवं संस्काराभिलाषी मेरे इस उत्तरदायित्व को निभायेंगे। मेरे जीवन की संध्या के समय मेरी अन्तिम इच्छा और आशा यही है कि अज्ञान तथा अबोध-वस्था में पड़ी जीवन-संस्कारहीन साधारण जनता में वे शिक्षा एवं ज्ञान का प्रकाश, समानता और संस्कार लाने का अनवरत उद्योग करेंगे।'

पन्तुलुजी की विद्वत्ता और असाधारण प्रतिभा से सभी लोग परिचित थे ही। इन्होंने हिन्दू-समाज का भी बड़ा उपकार किया और हिन्दू-धर्म की ख्याति को फैलाने का तीव्र उद्योग किया। सन् १८९८ ई० में मद्रास में हैन्दवदेशीय महासभा की ओर से चलाई गई 'साङ्घिक महासभा' के अध्यक्ष-पद को पन्तुलुजी ने सुशोभित किया था। उस सभा में

भाषण देते हुए स्वर्गीय महादेवगोविन्द रानडे ने भरी सभा में पन्तुलुजी को 'दक्षिण-भारत का विद्यासागर' उपाधि से विभूषित किया था ।

पन्तुलुजी ने समाज-सुधार के कार्यों में अपना सारा धन ही खर्च नहीं किया, बल्कि अपने को ही दान कर दिया था । मरते दम तक वे सेवा-कार्य में ऐसे लगे रहे कि उनकी निःस्वार्थ सेवा पर महान् साधकों को भी ईर्ष्या होती थी ।

पन्तुलुजी की प्रतिभा बहुमुखी थी । वे एक साथ ही सुधारक, दानी, कवि, लेखक, नाटककार, आलोचक, सम्पादक, शिक्षक, नेता, सब कुछ थे । स्वयं वे एक संस्था हो गये थे । आधुनिक आन्ध्र के सभी क्षेत्रों में कार्य करके वे अमर हो गये हैं । ऐसे महान् साधक पर आन्ध्र को गर्व है । वे अपने महान् कार्यों से केवल आन्ध्र के नहीं ही, बल्कि सारे देश के हो गये थे । उनका सन्देश सारे समाज और विश्व के लिए था । उनकी साहित्यिक सेवा पर मुग्ध हो सबने उन्हें आन्ध्र-भाषा के नवयुग-निर्माता की उपाधि से विभूषित किया । आज भी उनके स्मरण-मात्र से प्रत्येक साहित्यिक का हृदय भक्तिपूर्वक श्रद्धा के दो-चार फूल चढ़ाये बिना नहीं रह पाता ।

श्रीगुरजाड अप्पाराव

तेलुगु-साहित्य की नवीन धारा के प्रवर्तक कवि श्रीगुरजाड अप्पारावजी का नाम आन्ध्र का बच्चा-बच्चा जानता है। इन्होंने आन्ध्र-देश में नव-जागृति की शंख-ध्वनि करके लोगों को जगाया और साहित्य के विभिन्न अङ्गों का उद्भावन किया। इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में क्या भाषा, क्या भाव और क्या छन्द, सब में क्रान्ति पैदा कर दी और अपने नये आदर्शों को समाज के सामने रखा। इनकी कविता का आदर्श इन्हीं के शब्दों में देखिए—

‘आकुलन्दुन अणगि मणगि
कवित कोयिल पलूक वलेनोय्
पलुकुलनु विनि देश मन्दभि
मानमुलु मोलकेत्त वलेनोय्’

‘कविता-रूपी कोयल पत्रों की आड़ में छिपे रहकर गान करे और उसकी ध्वनियों को सुनकर देश में प्रेम-भावना जगे।’ इस प्रकार अप्पारावजी ने अपनी कविता का उद्देश्य सामाजिक कल्याण बताया था। ये कला को कला के लिए नहीं मानते थे, बल्कि समाज के लिए मानते थे। इनकी सभी कृतियों में हमें यह भाव स्पष्ट लक्षित होता है। पर, इनकी रचनाओं में हमें अधिक देश-भक्ति और देश-प्रेम-सम्बन्धी भावनाएँ मिलती हैं। अतः, आन्ध्र-देश इन्हें अधिक राष्ट्रीय कवि के रूप में जानता और मानता है।

स्वर्गीय श्रीगुरजाड अप्पारावजी का जन्म विशाखपट्टणम् जिला के रायवरम् गाँव में, ता० ३० नवम्बर (१८६१ ई०) को हुआ था। इन्होंने १७६

विजयनगरम् कॉलेज से बी० ए० पास किया। अध्ययन-काल में ही इन्होंने अंगरेजी में कविताएँ लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराना प्रारम्भ किया। सन् १८८४ ई० में जब ये उसी कॉलेज में अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए, तब उन्हें मासिक २५) रुपये मिलने लगे थे। इससे असन्तुष्ट होकर इस्तीफा दिया और डिप्टी कलक्टर के ऑफिस में हेड क्लर्क का कार्य सँभालने लगे। पाँच-छह महीने में उसे भी छोड़कर कॉलेज में लेक्चरर हुए। अप्पारावजी बड़े मेधावी थे। उन्हें क्लर्की-जैसा नीरस काम कहाँ रुच सकता था ? कॉलेज के विद्यार्थी इन्हें बहुत चाहते थे और इन्होंने भी विद्यार्थियों को ऊपर उटाने के लिए अथक परिश्रम किया। कॉलेज के अधिकारी इनकी प्रतिभा से परिचित हो चुके थे।

ऐसे समय में राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ। राष्ट्रीय महासभा-काँग्रेस ने देश में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार करना प्रारम्भ किया था। देश के कोने-कोने में नेताओं ने समाज-सुधार का बीड़ा उठाया। स्वामी दयानन्दसरस्वती, भारतेन्दु आदि ने उत्तर में समाज-सुधार एवं भाषा-साहित्य का कार्य आरम्भ किया। ब्रह्म-समाज का प्रभाव शिक्षित-समुदाय पर जोरों से पड़ने लगा था। आन्ध्र में वीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी ने समाज-सुधार का कार्य-क्षेत्र बढ़ाने में योग दिया। बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि दुराचारों को रोककर विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया।

समाज-सुधार के साथ वीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी ने साहित्य का संस्करण तथा साहित्य-सेवा भी की है। आन्ध्र-देश सदा उन त्रिमूर्ति का ऋणी रहेगा, जिन्होंने भाषा, भाव एवं समाज का संस्करण करके उसे स्वच्छ बनाया। सन् १९१४ ई० में साहित्य की रचना के लिए किस प्रकार की भाषा का प्रयोग हो—साहित्यिक या व्यावहारिक ? इस पर आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस बात पर काफी वाद-विवाद एवं चर्चाएँ हुईं। इन तूफानी दिनों में तेलुगु-साहित्य की धारा को मोड़ने तथा उसमें नई जान फूँकनेवाली त्रिमूर्ति का

नाम आन्ध्रवासी कभी भूल नहीं सकते। इन्होंने त्रिमूर्ति ने आन्ध्र-जाति, संस्कृति एवं साहित्य को जो देन दी है, वह अद्भुत है, अमर है, अनन्त है। तीनों ने तीन क्षेत्रों में कार्य किया। वीरेश-लिङ्गम् पन्तुलु ने समाज का, अप्पारावजी ने साहित्य का तथा राममूर्ति पन्तुलुजी ने भाषा का संस्करण किया। इन त्रिमूर्ति ने अंगरेजी-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था, उसको ठीक तरह से पचा भी लिया, पर उनकी संस्कृति को अपनाया नहीं, ये पूरे सोलह आने हिन्दुस्तानी और आन्ध्र थे।

राममूर्तिजी ने व्यावहारिक भाषा की आवश्यकता तथा उसके महत्त्व का परिचय ही लोगों को नहीं कराया, बल्कि उस भाषा में रचनाएँ लिखकर, मार्ग को और भी सुगमतर बनाया तथा साधारण जनता का साहित्य के साथ अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया।

अप्पारावजी ने कॉलेज में कार्य करते समय ही 'कन्याशुल्कम्' नामक नाटक लिखा था। उस समय आन्ध्र में ब्रह्म-समाज की भावनाओं का शिक्षितों में अधिक प्रचार हो रहा था। वीरेशलिङ्गम् पन्तुलुजी के आन्दोलन को अप्पारावजी ने साहित्यिक रचनाओं द्वारा बल दिया। व्यावहारिक भाषा में रचनाएँ लिखकर राममूर्ति पन्तुलुजी ने व्यावहारिक भाषा के आन्दोलन को बल प्रदान किया। कन्याशुल्कम् नाटक में अप्पारावजी ने दुराचारों के प्रति-मीठी हँसी में, चुभनेवाले शब्दों से प्रहार किया है। इस नाटक में व्यङ्ग्य की प्रधानता है। सामाजिक दुराचारों पर नाटककार ने कहीं-कहीं निर्दयतापूर्वक प्रहार किया है। इस नाटक की रचना का उद्देश्य स्वयं अप्पारावजी ने भूमिका में लिखा है—'सामाजिक संस्करण के आन्दोलन को दृढ़ बनाने तथा रङ्गमञ्च के लिए तेलुगु-भाषा अनुपम है, इस अपवाद को दूर करने के उद्देश्य से मैंने इस नाटक की रचना की है।'

पचास वर्ष पूर्व ही इस प्रकार का उत्तम मौलिक नाटक तेलुगु में प्रकाशित हुआ है। इस पर आन्ध्र को गर्व है।

‘कन्याशुल्कम्’ की रचना के उपरान्त अप्पारावजी का स्वास्थ्य खराब हो गया, तो विजयनगरम् के महाराजा आनन्दगजपति ने अप्पारावजी को आराम देने के उद्देश्य से शासन-सलाहकार के रूप में नियुक्त किया। उस समय उन्होंने कई ऐतिहासिक विषयों की खोज की। ‘कलिङ्ग-देश’ का इतिहास लिखने का निश्चय किया, पर प्रकाशकों ने व्यावहारिक भाषा का विरोध कर साहित्यिक भाषा में लिखने को कहा तो अप्पारावजी ने उत्तर दिया था—‘मेरा आन्दोलन जनता का है। उसे मैं किसी को सन्तुष्ट करने के लिए छोड़ नहीं सकता।’ अतः, उनकी खोज की हुई सब बातें उनके मस्तिष्क में ही रह गईं। वे बड़े आत्माभिमानी व्यक्ति थे।

श्रीअप्पारावजी ने कविता, कहानी एवं नाटक लिखे हैं। इनकी सभी रचनाओं में देश-प्रेम एवं समाज-सुधार की भावनाएँ हमें अधिक मिलती हैं। इनकी कविताओं का संग्रह ‘मुथ्याल-सरालु, (मोतियों का हार)’ नाम से छप चुका है। ‘कन्याशुल्कम्’ और ‘कोंडु-चट्टीयम्’ इनके नाटक हैं। ‘कोंडु-चट्टीयम्’ नाटक अपूर्ण ही रह गया है। ‘द्रिदुबादु’ (सुधार) और ‘मी पेरेमिटी ?’ (तुम्हारा क्या नाम है ?) आदि इनकी उत्तमोत्तम कहानियाँ हैं। अप्पारावजी के सम्बन्ध में तेलुगु के एक सुप्रसिद्ध कवि ने कहा है— ‘यद्यपि गुरजाड अप्पारावजी सन् १९१५ ई० में ही स्वर्ग सिधार गये हैं, पर उनका वास्तविक जीवन सन् १९१५ ई० के बाद से ही प्रारम्भ होता है।’ वास्तव में अप्पारावजी की कीर्ति उनकी मृत्यु के उपरान्त ही व्याप्त हो गई। उनके जीवन-काल में कवि की रचनाओं का मूल्य समाज नहीं आँक सका। महाकवियों तथा दूरदर्शी व्यक्तियों को पहचानने में समय अधिक लगता है। यह अप्पारावजी के लिए नई बात नहीं थी।

अप्पारावजी कम शब्दों में अधिक भाव को व्यक्त करते थे। भावनाएँ
१८२ सीधे जाकर पाठकों के हृदय पर असर करती हैं। पाठक तिलमिला

उठते हैं, रो पड़ते हैं। उन पात्रों के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं। इसी में अप्पारावजी की सफलता है।

अप्पारावजी के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय, कम ही होगा। इनका 'कन्याशुल्कम्' नाटक आन्ध्रवासियों का देशी वाल्मीकि-रामायण है। उन्नीसवीं शती की अन्तिम दशाब्दी के आन्ध्र-जीवन का सर्वस्व इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित है। नई और पुरानी शिक्षा-दीक्षा, सभ्यता, आचार-व्यवहार एवं नये तथा पुराने आदमी, सबका परिचय हमें इसमें मिलता है। संक्षेप में कहना है, तो वर्त्तमान आन्ध्र-इतिहास के लिए वह कच्चा माल है। नाटक-कला की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि प्रामाणिकता के विचार से भी कन्याशुल्कम् का मूल्य महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्णित विचार-धारा का, तेलुगु-साहित्य में, दस-गुना अधिक प्रतिबिम्बन हुआ है।

अप्पारावजी ने साहित्य में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करके लोक-साहित्य के साथ लोक-रीतियों को भी प्रोत्साहन दिया। दक्षिण-पथ में जैसे राम और कृष्ण का प्रभाव पड़ा, वैसे ही संस्कृत के कवि कालिदास और भवभूति का भी। उनकी संस्कृति, और भाषा का प्रभाव तेलुगु-साहित्य पर ऐसा पड़ा कि तेलुगु भी संस्कृतमय हो गई। पर, वह इस युग में उत्पन्न होनेवाले आत्मीयतापूर्ण साहित्य के सामने ठहर नहीं सकी। अतः, पुनः लोक-रीति-सम्बन्धी वस्तुओं का जन्म हुआ। इसके जन्मदाता अप्पारावजी ही हैं। बन्धनों में जकड़ी, अपनापन को खोकर मृत्यु-शय्या पर तड़पने-वाली आन्ध्र-कविता-कामिनी का अप्पारावजी ने स्पर्श किया नहीं कि उसमें जीवन आ गया। उसमें नया रक्त दौड़ने लगा। वह नव-यौवन-विलासनी बन गई।

तेलुगु को अप्पारावजी ने ही कमनीयता प्रदान की है। इनकी कविता में प्रसाद गुण के साथ कोमलता भी मिलती है। अप्पारावजी की प्रेम-कविता ने पुराने सरल तेलुगु के देशी छन्दों में ग्रीक-कथा को भी बिठा दिया। व्यक्ति एवं वाक्य को पारकर मानववाद के १८३

रूप में इनकी कविता परिणत हुई है। शताब्दियों से अज्ञात पड़ी देशी सरस्वती की स्रोतस्विनी गायक कवि अप्पारावजी में जन्म लेकर बहने लग गई है। इनमें राष्ट्रीय भावनाएँ कूट-कूट कर भरी थीं। ये काँग्रेस-सभाओं में भी जाकर भाषण दिया करते थे। इन्होंने तीस-चालीस साल पूर्व ही जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर मानवता-वाद का प्रचार किया था। इन पंक्तियों में वही भाव भरा है—

‘मलिन द्रोहल माल लनचुनु
मलिन चित्तुल अधिक कुलभुल
नेलवोसङ्गिन वर्ण धर्म
मधर्म धर्मवे !’

‘जिस वर्ण-धर्म ने मैले शहरवालों को अस्पृश्य कहा और कालुष्यपूर्ण चित्तवालों को उच्च साबित किया, क्या वह अधर्म से पूर्ण विधान न्यायसम्मत है ?’

इन्होंने धर्म के नाम पर लड़नेवालों को सचेत किया और धार्मिक भगड़ों का अन्त करके धर्म-समन्वय का रास्ता भी दिखाया है—

‘अन्न दम्मुल वलेनु जातुल,
मतमुलन्नियू मेलग वलेनोयु’

‘जाति एवं धर्म भाईचारे का बर्त्ताव करें।’ इनकी दृष्टि में सब मानव एक हैं। उनमें कोई छोटा या बड़ा, जाति एवं धर्म-भेद के कारण, नहीं बन सकता है। मानवता ही मानव का सबसे बड़ा धर्म और जाति है।

‘मानव’ नामक कविता में अप्पारावजी ने बताया है कि लोग अपने हाथ की बनाई मूर्तियों में भगवान् को ढूँढते हैं और उस पत्थर से भी मनुष्य को तुच्छ मानते हैं। भगवान् को पहाड़ों, और जङ्गलों में जाकर ढूँढते हैं। तपस्या करते हैं। पर उनकी यह धारणा गलत है। लोग यदि आँख खोलकर देखेंगे, तो उनको मनुष्य में ही भगवान् दिखाई देंगे। मानव भगवान् की प्रतिकृति है।

सन् १९१० ई० में अम्पारावजी ने 'देश-भक्ति' नामक एक गीत लिखा है, जिसे आज भी विशाल आन्ध्र के कोने-कोने में सभी बड़े चाव से गाते दिखाई देते हैं। यह राष्ट्रीय गीत है। यहाँ के लोग इस गीत को बङ्किमचन्द्र के 'वन्दे मातरम्', रवीन्द्रनाथ के 'जनगणमन' और इकबाल के 'सारे जहाँ' से कम महत्त्व नहीं देते हैं। इस गीत में कवि ने अनेक भाव भरे हैं। इसमें एक जगह मनुष्य के कर्तव्य की ओर सङ्केत करते हुए कवि ने कहा है—

‘स्वतं लाभम् कौत मानुक
पोरुगु वाडिकि तोडु पडवोय्
देशमंटे मट्टि कादोय्
देशमंटे मनुष्यु लोय ॥’

‘अपने स्वार्थ को दबाकर पड़ोसी धर्म निभाओ। उसकी हर तरह से मदद करो। देश के मानी मिट्टी नहीं है। देश के मानी मनुष्य है।’

इनके हर वाक्य और हर अक्षर में देश-भक्ति की धारा बहती नजर आती है। देश के भविष्य पर इनके विचार सुनिए—

‘देश मनियेडि दोड्ड वृक्षम्
प्रेमलनु पूलेत्त वलेनोय्
नरुल केमटनु तडसि मूलम्
धनम् पंटलु पण्ड वलेनोय्।’

‘देश-रूपी अच्छे वृक्ष से प्रेम-रूपी फूल खिले। मानव के पसीने से जड़ सिंचित होकर धन-रूपी फसल पैदा हो।’

इस प्रकार, इनके गीतों से हम अनेक उदाहरण दे सकते हैं, जो इनकी भाषा, मुहावरे एवं लोकोक्तियों के विदग्ध प्रयोगों से बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। अम्पारावजी ने भाषा, भाव, वस्तु आदि का प्रवर्तन ही नहीं किया, बल्कि प्रथम-प्रथम कहानी, नाटक एवं राष्ट्रीय गीत लिखकर युग का प्रतिनिधित्व भी किया है। बाद में अनेक कवि, कहानीकार एवं नाटककार इनके पथ के अनुयायी हुए।

‘कलाप्रपूर्ण’ श्रीवेदुमु वेङ्कटराय शास्त्री

आधुनिक तेलुगु-साहित्य को समृद्ध बनाकर उसे महत्वपूर्ण स्थान दिलानेवाले कुछ इने-गिने महानुभावों में श्रीवेदुमु वेङ्कटराय शास्त्री मूर्धन्य थे। शास्त्रीजी बहुमुखी प्रतिभा रखते थे। इन्होंने नाटक, कहानी, आलोचना, अलङ्कार-शास्त्र इत्यादि आधुनिक आन्ध्र-वाङ्मय के समस्त क्षेत्रों में काम किया और अपने असंख्य अमूल्य ग्रन्थों द्वारा तेलुगु-साहित्य के भाण्डारको भरने का सफल प्रयत्न किया। इन्होंने लगभग ५० ग्रन्थ लिखे, जो तेलुगु-साहित्य-भाण्डार के रत्न कहे जा सकते हैं। शास्त्रीजी की विद्वत्ता, प्रतिभा, विचार एवं भाषा का प्रभाव तेलुगु-साहित्य पर स्पष्ट रूप से बिम्बित है। संक्षेप में कहा जाय, तो ये आधुनिक तेलुगु-साहित्य के एक स्तम्भ थे। शास्त्रीजी का परिचय तेलुगु-साहित्य के मर्मज्ञ, आन्ध्र-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति और सत्समालोचक श्रीकट्टमञ्जिरामलिङ्गा रेड्डीजी के शब्दों में देखिए—‘तेलुगु-भाषा को नया जीवन, नवीन कला तथा दिन-प्रति-दिन प्रवर्द्धित प्रभाव प्रदान करनेवाले पण्डित, कवि, नाटककार, गद्य-लेखक एवं कलाविदों में श्रीवेदुमु वेङ्कटराय शास्त्री प्रथम और अद्वितीय थे।’

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में नई जागृति की लहर पैदा हुई। केवल भाषा के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु यह सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो गई। विश्वविद्यालयों की स्थापना, अँगरेजी-शिक्षा का प्रभाव, पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार आदि कारणों से जनता की रुचि, वेश और भाषाएँ बदलने लगीं। हमारे वाङ्मय को सुरक्षित

रखने के लिए छापाखाने का आविष्कार हुआ। इस सन्धि-काल में कुछ पण्डित और व्यापारी मनमाने ढंग पर संस्कृत और तेलुगु-ग्रन्थों को, जो भी उपलब्ध हुए, परिष्कृत कर, यदि अवकाश प्राप्त न हुआ, तो उसी रूप में छाप देते थे और अधिक मूल्य में बेच देते थे। कुछ कवि नई शैली में कविताएँ करने लगे, तो कुछ अँगरेजी और संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में लग गये। इस प्रकार, नये जोश में ग्रन्थ-मुद्रण से भाषा की जो हत्या होती थी, उससे दुःखी हो शास्त्रीजी ने स्वयं एक मुद्रणालय की स्थापना की और अनेक संस्कृत और तेलुगु-ग्रन्थों को शुद्ध रूप में प्रकाशित किया। इन्होंने स्वयं कई मौलिक ग्रन्थों की रचना की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बालकोपयोगी 'प्रतिया-छन्द' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। वह 'छन्दरुस्तु' नाम से पुनः मुद्रित हुआ है।

शास्त्रीजी ने तीन स्वतन्त्र नाटक लिखे और कई संस्कृत-नाटकों का अनुवाद किया। इनके पूर्व तेलुगु में कहने योग्य कोई पूर्ण मौलिक नाटक नहीं आया था। अतः, शास्त्रीजी ने पहले संस्कृत के 'नागानन्द' नाटक का अनुवाद किया। इसके पूर्व भी तेलुगु में संस्कृत के कुछ अनुवाद हुए थे। उनमें पात्रोचित भाषा का प्रयोग नहीं हुआ था। संस्कृत-नाटकों में नीच पात्रों के लिए प्राकृत भाषाओं का प्रयोग किया जाता था, लेकिन तेलुगु में पहले जिन संस्कृत-नाटकों का अनुवाद हुआ, उनमें इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। शास्त्रीजी को यह अनुचित मालूम हुआ। इन्होंने अपने अनुवाद में नीच पात्रों के लिए ग्राम्य तेलुगु का प्रयोग किया। इसकी अनेक कवि और आलोचकों ने बड़ी प्रशंसा की। कुछ लोगों ने विरोध भी किया, लेकिन शास्त्रीजी में इन प्रशंसाओं और निन्दाओं से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वे अपने ध्येय पर अटल रहे। उन्होंने १८९६ में जब कालिदास की 'शकुन्तला' का अनुवाद किया, तब भी भाषा-भेद दिखाकर नीच पात्रों के लिए ग्राम्य भाषा का प्रयोग किया। इस नाटक की भी बड़ी प्रशंसा हुई। शास्त्रीजी ने

इसकी एक प्रति वेङ्कटगिरिमल राजा को भेजी । उन्होंने शास्त्रीजी को एक बहुत बड़ी धन-राशि देकर सहायता की । इनकी प्रत्येक पुस्तक के प्रकाशनार्थ वे यथासम्भव साहाय्य पहुँचाते रहे ।

शास्त्रीजी ने १८९७ में 'प्रतापहृद्रीयमु' नामक एक स्वतन्त्र तेलुगु-नाटक लिखा । यही इनकी कृति का केतु है । इस नाटक का कथा-संविधान-चमत्कार, घटना-समावेश, पात्र-निर्माण-कुशलता, रस-पोषण और कविता अत्यन्त अद्भुत हैं । इस नाटक को शास्त्रीजी ने वेङ्कटगिरि के महाराजा को समर्पित कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है । इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है । काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र को दिल्ली के सुलतान कैद करके ले जाते हैं और उनका मन्त्री युगन्धर अपनी युक्ति के बल पर उन्हें छोड़ाकर स्वयं सुलतान को बन्दी बनाता है । इस नाटक को पढ़ते समय हम हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं ।

१९१६ में इन्होंने 'बोम्बिलि-मुद्र' नाटक की रचना की । यह भी आन्ध्र-देश के इतिहास से सम्बद्ध है । इसमें बेलम-वीरों की शूरता का जीता-जागता चित्रण हुआ है । यह नाटक वीर-रस-प्रधान है । इस नाटक में विदेशों की कूटनीति, हमारी आपस की फूट और वीरता का अच्छा चित्रण हुआ है । ऐतिहासिक नाटक लिखने में शास्त्रीजी अद्वितीय थे । हमें इनके नाटक पढ़ते समय जयशंकर प्रसाद का स्मरण हो आता है । ये नाटक-रचना में कहीं उनसे भी आगे बढ़ गये हैं ।

'उषापरिणयमु' (१९०२) इनका तीसरा मौलिक नाटक है । तीनों नाटक अपने ढंग के अकेले कहे जा सकते हैं । इन मौलिक नाटकों के अलावा शास्त्रीजी ने और भी कई संस्कृत-नाटकों का अनुवाद किया है, जिनमें 'नागानन्द' (१८९२) और 'आन्ध्र-अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (१७९६) के अनुवाद विशेष उल्लेख्य हैं । इसका हमने ऊपर भी उल्लेख किया है । १८९६ में ही 'प्रियदर्शिका' रूपक का अनुवाद किया, फिर १९१९ में मालविकाग्निमित्र, १९२० में उत्तरराम-

चरित और १९२१ में विक्रमोर्वशीयम् और रत्नावली के अनुवाद प्रस्तुत किये ।

शास्त्रीजी सफल नाटककार ही नहीं थे, बल्कि दर्शक (सिनेमा के नहीं) भी थे । इनके नेल्लूरवासी अनेक शिष्य स्वयं इनकी देख-रेख में अभिनय करना चाहते थे । अन्त में, श्रीगुणपतिनादि रेड्डीजी के सहयोग से वहाँ के नागरिकों ने 'आन्ध्र-भाषाभिमानी-समाजम्' की स्थापना, १९०९ ई० में, की । शास्त्रीजी इसके अध्यक्ष थे । इस समाजवाले केवल शास्त्रीजी के नाटकों का ही अभिनय कराना चाहते थे । नट इनसे शिक्षा पाकर अच्छी तरह से प्रदर्शन करते थे ।

शास्त्रीजी का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य प्राचीन तेलुगु-ग्रन्थों का संस्करण कर मुद्रित कराना है । असंख्य तेलुगु-काव्य जीर्णावस्था में पड़े हुए थे, उनके उद्धार करनेवाले पण्डितों में ये भी एक थे । इन्होंने कठिन-काव्यों की टीका तथा व्याख्याएँ लिखकर उन्हें सर्वसाधारण पाठक के योग्य बना दिया । उदाहरण के लिए श्रीनाथ कवि-कृत 'शृङ्गारनैषध' को पढ़कर उसका भाव समझनेवाले व्यक्ति कम ही होंगे । व्याख्या के द्वारा तो अधिकांश लोग उस काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं । यह बहुत ही कठिन काम था । इसे शास्त्रीजी ने बड़े परिश्रम के साथ सम्पन्न किया । वैसे ही महाकवि कृष्णदेवराय-प्रणीत 'आमुक्त-माल्यदा' की भी इन्होंने सुरुचिपूर्ण व्याख्या लिखी है । यह इतना कठिन था कि बीच-बीच में इसके श्रम को भूल जाने के लिए ये संस्कृत के सरल काव्यों और नाटकों का अनुवाद करते थे । इन दो काव्यों के अलावा 'मेघ-सन्देश', 'पुष्पबाण-विलास', 'रघुवंश', 'कुमार-सम्भव', 'अमर-काव्य', 'रसमञ्जरी' और 'भर्तृहरिशतक-त्रय' की व्याख्याएँ आपने प्रस्तुत की हैं । किसी-किसी काव्य की तेलुगु में टीका के साथ मूल तेलुगु-पद भी मुद्रित हैं । इन पुस्तकों की भूमिका के रूप में इन्होंने जो विचार दिये, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । साथ ही,

इनमें पुस्तकों का महत्त्व और उद्देश्य आदि समझाये गये हैं, जिनसे उन ग्रन्थों को समझने में पाठक को बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

शास्त्रीजी ने उपर्युक्त ग्रन्थों की व्याख्याएँ भी लिखीं। इसके अलावा इन्होंने अनेक संस्कृत और तेलुगु-ग्रन्थों को सुधार कर प्रकाशित किया है। उनमें 'भोज-चरित्रम्', 'विक्रमार्क-चरित्रम्', 'पञ्चतन्त्रम्' आदि संस्कृत-ग्रन्थ हैं। तेलुगु के काव्यों में श्रीचेमकूरकवि-कृत 'शार्ङ्गधर-चरित्र' और 'विजय-विलासम्', श्रीगौरन-रचित 'हरिश्चन्द्र-द्विपद', श्रीमडिकि सिगन-प्रणीत 'श्रीज्ञानवसिष्ठरामायणम्', तथा श्रीशम्भुदास-कृत 'शार्ङ्गधर-द्विपद' 'काव्यालङ्कार-चूडामणि' और 'पारिजातापहरण' नामक ग्रन्थों की टिप्पणियाँ इन्होंने लिखीं, जो आपकी विद्वत्ता की परिचायिका हैं।

शास्त्रीजी के संस्कृत-नाटकों के अनुवाद बड़े ही लोकप्रिय हुए और सर्वत्र प्रदर्शित भी किये गये। इनका अनुवाद भी स्वतन्त्र रचना-जैसा प्रतीत होता है। इन्होंने नाटक ही नहीं, अपितु कथा, काव्य, आलङ्कारिक ग्रन्थ आदि का भी अनुवाद किया है, जिनमें 'कथा-सरित्सागर', 'हितोपदेश', 'दशकुमार-चरित', 'वैताल-पञ्चविंशति-कथा', 'विक्रमार्क की अद्भुत कथाएँ', आन्ध्र-साहित्य-दर्पण' आदि मुख्य हैं। इनमें कुछ पद्यानुवाद हैं और कुछ गद्यानुवाद और कुछ चम्पू हैं।

शास्त्रीजी ने समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में अनेक समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। इनका समय आधुनिक तेलुगु-साहित्य के लिए एक सुनिश्चित स्वरूप निर्धारित करने का था, चाहे वह भाषा का हो, चाहे व्याकरण का हो या काव्य का। ऐसी स्थिति में विद्वानों में मतभेद स्वाभाविक था। इस पर समीक्षा चलती थी। नाटकों में पात्रोचित भाषा के विषय पर तेलुगु में जितने वाद-विवाद हुए, सम्भवतः उतने प्रकार की चर्चा विश्व की किसी भी भाषा में इस विषय पर न हुई होगी। इनके आलोचनात्मक ग्रन्थों में 'आन्ध्र-प्रसन्न-राघव-विमर्शनम्', 'जक्कन', विक्रम का 'चरित्र-मुद्रण-विमर्शनम्', १६० 'कालहस्ती-माहात्म्य-विमर्शनम्' और 'विमर्श-विनोदम्' मुख्य हैं।

इनमें स्वर्गीय श्रीमहामहोपाध्याय कोक्कोड वेङ्कटरत्नम् पन्तुलुजी ने संस्कृत-‘प्रसन्नराघव’ का अनुवाद किया था। उसकी समीक्षा शास्त्रीजी ने ‘आन्ध्र-प्रसन्नराघव’ नाम से की है। यह बड़े साहस का कार्य था; क्योंकि श्रीवेङ्कटरत्नम् अपने समय के अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। उनकी भाषा, कथन-शैली आदि अत्यन्त प्रमाणिक माने जाते थे। शास्त्रीजी ने जिस वस्तु की आलोचना आवश्यक समझी, उसे अत्यन्त निर्भयता के साथ किया। समीक्षा ही तो साहित्य की कसौटी होती है और सहृदय समीक्षकों के कारण ही साहित्य का स्तर सदा उँचा बना रहता है।

श्रीवेङ्कटराय शास्त्री की ख्याति उस समय हुई, जब उन्होंने श्रीनाथ महाकवि-कृत ‘शृङ्गारनैषध’ की व्याख्या प्रकाशित की। इस व्याख्या पर अनेक नगरों में भाषणों का प्रबन्ध किया गया। उस समय बेल्लूर के श्रीगुणुपति एनादि रेड्डीजी ने बहुत-सा धन देकर इनका सत्कार किया। उसी नगर (नेल्लूर) के वद्विमान समाजवालों ने ‘अभिनव मल्लिनाथ’ नामक उपाधि से विभूषित किया। फिर, १९१९ ई० में, नेल्लूर नगर में ‘आन्ध्र-सारस्वत-सभा’ हुई और उस अवसर पर उक्त सभा के सदस्यों ने शास्त्रीजी का, २२२६) रुपये पुरस्कार के साथ, सम्मान किया और इन्हें ‘महोपाध्याय’ उपाधि प्रदान की। जब इङ्ग्लैण्ड के युवराज का मद्रास में आगमन हुआ, तब विश्वविद्यालय के अनुरोध से दक्षिण-भारत के सभी पण्डितों का सम्मान किया गया। उस समय शास्त्रीजी को तेलुगु-पण्डितों में प्रथम माना गया और सुवर्ण, दुशाले आदि के द्वारा इनका सम्मान किया गया था।

फिर, कुछ समय के बाद शास्त्रीजी का असाधारण सम्मान किया गया। शास्त्रीजी के एक शिष्य थे, जो क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ते थे, बाद को वे संन्यासी हो गये। वे शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित शारदापीठ के जगद्गुरु बने। उनका नाम भारती कृष्णतीर्थ था। उन्होंने अपने गुरु शास्त्रीजी के सम्मान में नेल्लूर में एक सभा १६१

आयोजित की। उसमें शास्त्रीजी को छह उपाधियाँ — 'महामहोपाध्याय', 'विद्यादानव्रतमहोदधि', 'पण्डितराज', 'वेदवेदाङ्ग-शास्त्रजालमहोदधि', 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र', और 'व्याख्यातृचरवर्ती'— प्रदान कीं और पुत्र-पौत्र-वंश-परम्परा के लिए मठ से मासिक १५०) रुपये भेजने का प्रबन्ध कर दिया। इस अवसर पर प्रायः दक्षिण के सभी प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। इनकी उपर्युक्त उपाधियों द्वारा हम इनकी साहित्य-सेवा और असाधारण विद्वत्ता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इनके पाण्डित्य पर प्रसन्न होकर वेङ्कटगिरि, गढ़वाल आदि प्रदेशों के राजाओं ने उचित अर्थ सहायता में देकर इनका सम्मान किया। श्रीबेजवाड़ रामचन्द्ररेड्डी ने दस हजार रुपये संग्रह कर शास्त्रीजी का कर्ज चुकाया। इन्हें जितनी बड़ी धन-राशि मिली, उतनी आधुनिक समय में किसी कवि और पण्डित को नहीं मिली। परन्तु, शास्त्रीजी ने सारे धन को प्रेस, पुस्तक-प्रकाशन इत्यादि में खर्च कर दिया।

शास्त्रीजी के महत्त्वपूर्ण कार्यों में 'ग्रामुक्त-माल्यदा (कृष्णदेव-राय-कृत) की व्याख्या मुख्य है। इसे प्रकाशित करने के लिए जो धन संग्रह किया गया था, वह उसके लिखने में ही खर्च हो गया। जब छपने का प्रश्न उठा, तब श्रीऐरबोलु रामचन्द्ररेड्डी ने २,५००० रुपये देकर उसे प्रकाशित कराया। यह १९२७ में प्रकाशित हुई। इस पर 'ग्रान्ध-विश्वविद्यालय' ने शास्त्रीजी को 'कलाप्रपूर्ण' (डाक्टर ऑफ आर्ट्स) नामक उपाधि से विभूषित किया। उसी दिन बेजवाड़ा (विजयवाड़ा) की नगरपालिका ने शास्त्रीजी को 'फ्रीडम ऑफ दिज सिटी ऑफ बेजवाड़ा' उपाधि देकर गौरवान्वित किया। फिर भी, ये इन समस्त उपाधियों से ऊपर थे। ऐसे विद्वान् पर ग्रान्ध को गर्व है।

तेलुगु के आधुनिक कवि

द्वितीय महासंग्राम के उपरान्त विश्व में जो अन्तरराष्ट्र-व्यापी परिवर्तन हुए, उनका प्रत्यक्ष प्रभाव आधुनिक तेलुगु-कविता पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप, काव्य-वस्तु, शैली, छन्द, अलङ्कार इत्यादि में नये प्रयोग किये गये। आधुनिक युग की अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए छन्दों के बन्धन बाधास्वरूप सिद्ध हुए। मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला प्रत्येक प्राणी और उपकरण काव्य-वस्तु बने। अचेतन प्रकृति की अपेक्षा चेतनाशील मानव-जगत् में आधुनिक कवियों ने अधिक सौन्दर्य देखा। मानव-समुदाय का स्वस्थ एवं प्रसन्न देखने को आधुनिक कवि तड़पने लगा, पर आर्थिक विषमता, राजनीतिक दासता, सामाजिक दुष्परिणाम इस मार्ग में रोड़े बनकर खड़े थे। अतः, कवि का वार उन्हें तोड़ने को छटपटाने लगा। इन सब स्थितियों को लेकर, आधुनिक तेलुगु-साहित्य के वैतालिक बनकर श्रीरङ्गम् श्रीनिवासराय (श्रीश्री) अवतरित हुए।

यों तो, तेलुगु-काव्य-क्षेत्र में श्रीश्री का पदार्पण बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, परन्तु इस नये उत्थान के ये ही अग्रदूत बने। इन्होंने प्रथम कविता के प्राचीन सम्प्रदायों को त्याग दिया। हृदय को स्पन्दित करनेवाली भावनाओं के अभिव्यक्तीकरण के मार्ग में ये सब बन्धन अवरोध हैं, इसका परिचय देते हुए कवि ने 'कविता-गीत' में बताया है—

मैंने जो देखा, सुना,
अभिव्यक्तीकरण के लिए शब्दों की खोज करूँ
तो भावनाओं का आवेग—

श्मशान से शब्द-कोशों को पारकर
व्याकरण की शृंखलाओं को तोड़कर
छन्दों के सर्प-परिष्वङ्ग को त्याग
वेग से, अति वेग से
दौड़ हृदय-तल पर पग धरे !

कवि समस्त संसार में आमूल परिवर्तन लाना चाहते हैं, इनके
हृदय में पतित, भ्रष्ट एवं अनार्थों के प्रति अगाध सहानुभूति है।
कवि एक नये युग की कल्पना करते हैं, जिसमें मनुष्य-समाज स्वर्ग-
सुखों का भोग करनेवाला साबित होगा। कवि के शब्दों में ही देखिए—

स्वातन्त्र्य, समभाव
सौभ्रातृत्व, सौहार्द
नींव बनकर भवन बने
जन जीवन शुभमय हो
शान्ति, शान्ति, कान्ति, शान्ति
यह स्वप्न सत्य होगा !
यह स्वर्ग साकार होगा !!

श्रीश्री ने अपनी कविता का उद्देश्य स्पष्ट रूप से समाज का
कल्याण बताया है। समस्त प्रकार की कथाएँ मानव-समाज की
अभ्युन्नति एवं उपयोग के लिए हैं। कलाकार ने इस सत्य को अपनी
कला में साकार किया। इसके अतिरिक्त हृदय को स्पन्दित कर परि-
वर्तित करनेवाले, गफलत की नींद से जगाकर प्रगति के पथ पर
ले जानेवाले तथा परिपूर्ण जीवन प्रदान करनेवाले गुणों को भी कवि
अपनी नवीन कविता में समाविष्ट करते हैं।

श्रीश्री में सर्वमानव-सौभ्रातृत्व की भावना चरम सीमा को
प्राप्त हुई है। 'मानव' नामक कविता में श्रीश्री ने मानव का सच्चा
परिचय दिया है—

सौन्दर्य के आराधक !

कविता में, शिल्प में,—कीड़े में, पुष्प में—

बिजली में, बादल में
 सौन्दर्य की आराधना करनेवाले !
 सुखी, ! दुःखी ! विह्वल वीर !
 प्रेमी ! वियोगी ! योगी ! भोगी ! त्यागी !
 एशिया, अमेरिका, यूरोप,
 अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया में
 समुद्र-द्वीपों में,
 ध्रुव-प्रान्तों में !
 नगरों में, गाँवों में !
 धनी ! निर्धन !
 वृद्ध, युवक,
 गोरे, काले, लाल, पीले,
 बलवान, निर्बल
 जीनेवाला, गानेवाला !
 मानव ! मानव !
 अविभक्त कुटुम्बी
 एक रक्तबन्धु !
 मानव ! मानव !
 अनेक भाषा-भाषी !
 अनेक स्थलों के सञ्चारी
 सहृदय ! सदय ! सन्मार्गगामी !

कवि 'देशचरित्रलु' (देशों के इतिहास) नामक कविता में बताते हैं कि किसी भी देश का इतिहास देखें; इसमें हमें कोई गर्व का कारण दिखाई नहीं देता। मानव-जाति का समस्त इतिहास शोषण से भरा हुआ है, और है रण-रक्त के प्रवाह से सिकत। बलवान् व्यक्ति दुर्बलों को अपना दास बनाता है और वे ही शासकों के रूप में इतिहास में प्रसिद्ध हुए हैं। हम समस्त संसार में ढूँढ़ें, तो भी हमें कहीं ऐसा स्थान नहीं मिलेगा, जहाँ पर की धरती रक्त से तर १६५

न हो अथवा आंसुओं से । गोरी, गजनी, सिकन्दर इत्यादि शासक नहीं, महान् हत्यारे थे ! आगे बताते हैं—

अज्ञान के अन्ध-युग में
क्षुधा और आवेश में
किन्हीं तीव्र अज्ञात शक्तियों के
चलाये चले हुए मनुष्य—
परस्पर सङ्घर्ष में
पैदा हुआ इतिहास
चिरकाल से चलनेवाला धोखा
बलवानों के अत्याचार
धनवानों के कुतन्त्र—
भविष्य ! भविष्य में नहीं चलने का !
एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति द्वारा
एक जाति का दूसरी जाति द्वारा
शोषण करने का सामाजिक धर्म
आगे ! आगे चलने का नहीं ।

आगे जाकर कवि कहते हैं कि इतिहास के अन्धकार में पड़ी अज्ञात गाथाओं की, जो छिपाने का प्रयत्न करने पर भी छिप नहीं सकतीं, आवश्यकता है । नील नदी की संस्कृति में जनसाधारण का जीवन कैसा था ? ताजमहल के निर्माण में किन मजदूरों ने हाथ बँटाया ? तक्षशिला, मोहनजोदडो, हरप्पा इत्यादि के इतिहासों में मानव का कैसा विकास हुआ था ? किस समय किस देश ने कैसी उन्नति की ? वही परमार्थ है ! शिल्प, गान्धर्व इत्यादि कलाओं में किस प्रकाश की ओर प्रस्थान कर रहे हैं ! कौन स्वप्न ! कौन दिग्विजय है !

श्रीश्री ने मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः प्रत्येक विषय का स्पर्श किया और अष्टाधुनिक अभ्युदयी कविता के प्रवर्तक हुए ।

इनके अनन्तर समकालीन कवियों में भी कुछ ने श्रीश्री का अनुकरण

किया, कुछ ने अपनी विशेषताओं के कारण अपना अलग अस्तित्व बनाया। अभ्युदयी (प्रगतिशील) कवियों के अतिरिक्त पुरानी परम्परा के अनुगामी कवि भी इस युग में कम नहीं हुए।

श्रीश्री के उपरान्त श्रीरङ्गम् नारायण बाबू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बीभत्स कविता करने में नारायण बाबू श्रीश्री से कहीं आगे बढ़ गये हैं। इनका कथन है कि 'वास्तविकता (यथार्थता) छाया-चित्र जैसी है, तो अतिवास्तविकता 'एक्स रे'-जैसी। अतिवास्तविकता साहित्य में खुलवाया गया मन्त्र-कपाट है और फ्रॉयड के सिद्धान्त और मार्क्स के सूत्रों के मिलन में उद्भूत क्रमगान है।'

बहुमुखी मानव-जीवन के समस्त विषयों की समग्र रूप में समीक्षा करके स्पष्टता, सरलता और सुन्दरता इन तीनों लक्षणों का कविता में आरोप करना यथार्थ साहित्य कहलाता है। पर, इसमें अश्लीलता के लिए कोई स्थान नहीं है।

श्रीनारायण बाबू ने स्वयं अपने को विप्लव पैदा करनेवाला ऋषिपुङ्गव तथा विद्रोही बताया है। आपने अकाल, गरीबी इत्यादि विभीषिकाओं का नग्न चित्रण किया है। श्रीरेण्टाल गोपालकृष्ण द्वारा विरचित 'सङ्घर्षण' नामक कविता-संग्रह की भूमिका में आपने अपने आशयों का अच्छा परिचय दिया है—'साहित्य-जगत् को गुम-राह करनेवाले भाव-कविता-युग (छायावादी युग) को भाव-कवियों ने स्वर्ण-युग बताया, पर हम उसे यथार्थवादी युग मानते हैं। भाव-कविता की रीतियों को हजम कर हमने भी इस प्रकार की कविताएँ कीं... पर बाद में हमारे हृदय में एक सञ्चलन, उद्वेग, शक्ति तथा ओजो-गुण ने हठात् हमें स्वस्थता प्रदान की...हमारी कविता में अनाहत वस्तु (कथावस्तु) और भाषा नहीं है। धोबी, कुत्ता, गधा, बारूद, तोप, फैक्टरी की कूक, भिक्षुक, एक क्या—दुनिया की सभी चीजें हमारी दृष्टि में कविता-वस्तु बनने योग्य हैं! पलायन करना हमसे बनता नहीं। हम जीवन का वास्तविक दर्शन करते हैं। मानव-जीवन को मलिनता-पूर्ण मानते हैं, उसकी ओर उँगली दिखाकर खोज

करते हैं और उसे धो डालते हैं। वेदान्तियों ने जीवन और प्रकृति का आवाहन कर लिया, तो हम जगत्, जीवन और प्रकृति को भी परिवर्तित कर सकते हैं।...मानव का अभ्युदय और जगत् का कल्याण कवि का ध्येय है।...

श्रीनारायण बाबू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विस्तृत विषय को कम शब्दों में प्रभावात्मक शैली में प्रकट करते हैं। 'देश-माता' नामक कविता में कवि भिखारिन को देशमाता के रूप में चित्रित करते हैं—

क्षुधा न मिटानेवाले
नग्नता न ढकनेवाले
देश के वास्ते मिट्टी के दीपक में
मानिनी बत्ती बनकर जली !

श्रीनारायण बाबू की कविताएँ 'रुधिर-ज्योति' नाम से संगृहीत हैं।

श्रीश्लिष्टा उमामहेश्वरराव भी आधुनिक कवियों में अपना विलक्षण स्थान रखते हैं। नये प्रयोग, नई कल्पना, नई सामग्री और भाव-वैचित्र्य की विशेषताओं के कारण ये अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर सके हैं। और, इन गुणों के द्वारा आधुनिक कविता को समृद्ध बनाने का आपने सफल प्रयत्न किया है। आपकी 'नवमि चिलुका', 'वैतरिणि' 'प्रेम' इत्यादि कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। 'प्रेम' शीर्षक कविता में तो आधुनिक युग की प्रत्येक नारी को सीता के रूप में दर्शन किया है। नारी की महत्ता का परिचय देते हुए कवि कहते हैं—

समस्त मानव समुदाय के
समष्टिगत उत्तरदायित्व की
अमूल्य रीढ़ पर
ढो रही है सीता !

आधुनिक कविता में अंगरेजी-शब्दों का अधिक प्रयोग करनेवाले १६८ कवि 'आरुद्र' हैं। आप नये प्रयोग करने में पटु हैं। अपनी अलग

विशेषता रखते हुए भी ये आदर्श में श्रीश्री की ओर झुके हुए हैं। कवि का कथन है कि तेलुगु में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बँगला इत्यादि वैसी भाषाओं के शब्द चल सकते हैं, तो विदेशी शब्दों को अपनाने में दोष ही क्या है ! हृदय की अनुभूतियों को व्यक्त करते समय हमें भाषा के स्वरूप पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि भाव पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

श्रीआरुद्र की कविताएँ 'त्वमेवाहम्' नाम से संगृहीत हैं। 'इसुक गडियारमु' (रेतीली घड़ी) नामक कविता में कवि व्यक्त करते हैं—

जनता गाढ निद्रा में निमग्न

कविता दीर्घ स्वप्न में मग्न

यह सभ्यता ही अनुचित है

इससे कल्याण का होना स्वप्न-मात्र है।

इस परम्परा के कवियों में अभ्युदय-भावनाओं के साथ गम्भीर तात्त्विक दृष्टि अन्तर्वाहिनी के रूप में रखनेवाले विशिष्ट कवि श्रीअनिशेट्टी सुब्बारावजी हैं। इन्होंने आधुनिक युग की घटनाओं को कथावस्तु बनाकर काव्य-सौन्दर्य की पोषणा की। इनमें विमर्शना-शक्ति, स्थिर-बुद्धि, कलात्मक और तात्त्विक दृष्टि समान रूप में पाई जाती है। श्रीअनिशेट्टी की कविता की व्याख्या उन्हीं के शब्दों में देखिए— 'आद्यन्त-रहित प्राणवाहिनी के मार्गान्वेषक चेतना-प्रवाह प्रधान रूप से दो है—पहला तत्त्वशास्त्र और दूसरी कविता। ये दोनों मानव के ज्ञानचक्षु हैं। इन सुन्दर ज्ञान-नेत्रों के प्रकाश में जगत् के जीवन के रहस्यों का अनुसन्धान करना होगा। आज मात्र प्रकाश काफी नहीं है, प्रचण्ड उष्णता की भी नितान्त आवश्यकता है।'।

श्रीअनिशेट्टीजी देखते हैं कि समस्त मानव-समुदाय एक महा-यात्रा कर रहा है। मार्ग-मध्य में क्षुधा-प्यास, रोग-शोक, गरीबी इत्यादि रोड़े उपस्थित होते हैं। कुछ लोग इस महायात्रा के मार्ग-

मध्य में ही अपनी इहलीला समाप्त करते हैं। कवि भ्रम में पड़ जाते हैं कि चैतन्यवान् प्राणी का अन्त विषादपूर्ण तो नहीं है? परन्तु कुछ समय के उपरान्त कवि स्वयं देखते हैं, उस निबिडतम अन्धकार को चीरकर प्रकाश-पुञ्ज का आगमन हो रहा है। पृथ्वी और पुरुष के बीच विभाजन की रेखा उपस्थित कर शासन करनेवाले दुष्टों के विरुद्ध किसानों को उद्घोषित करते हैं।

इसके अतिरिक्त बंगाल का अकाल, कश्मीर की लड़ाई, धार्मिक झगड़े इत्यादि का 'नवभारती' नामक कविता में अच्छा वर्णन किया है। 'अणुबम' नामक कविता में कवि अणुशक्ति को मानव के अभ्युदय एवं उत्थान के उपयोग में लाने की प्रेरणा देते हैं।

उधर आन्ध्र के जिलों में प्रगतिशील कवियों की गर्जन-ध्वनि जनता में चेतना पैदा कर रही थी, तो उधर तेलङ्गाने में श्रीदाशरथि, श्रीसी० नारायण रेड्डी तथा श्रीकालोजी नारायणराव ने सुप्त जनता को जागरित किया और अपने प्राचीन महान्द्र-वैभव का स्मरण दिलाकर भविष्य के निर्माण की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की। तेलङ्गाने में विप्लव पैदा करने में इन कवियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। श्रीकालोजी नारायणराव प्रजा-कवि हैं। आपने जनता की भाषा में हृदयस्पर्शी शैली में कविता की और गीत लिखे। इसी प्रकार की रचनाएँ करने के कारण कालोजी और दाशरथि को कारावास में रहना पड़ा। कालोजी की कविताएँ 'ना गोडव' नाम से संगृहीत हैं।

वर्तमान समय के तेलङ्गाने के अत्याधुनिक कवियों के मार्ग-दर्शक श्रीदाशरथिजी हैं। आपने 'मेरी तेलङ्गाणा कोटिरत्नजडित वीणा' की घोषणा करके सामाजिक क्रान्ति का स्वागत करनेवाला गम्भीर गर्जन किया। निजामशाही के शासन से पीडित जनता की आवेदना को आपने वाणी प्रदान की। आपके कई कविता-संग्रह जनता के कण्ठहार बने हुए हैं। उनमें 'अग्निधारा', 'रुद्रवीणा', 'महान्द्रोदय' और 'बोधि-

मस्तिष्क में लेबोरेटरी

इस लेबोरेटरी में बैठ

कलम की नोंक से

कैसी जबरदस्त कविता की सृष्टि कर सकते हैं ।

आगे कहते हैं—

इन वेदना-जनित कल्पनाओं को

पहनाने को व्याकरण-सूत्रों के रेडिमेड पोशाक न होने के कारण—

ये नग्न शरीरों से जगत् की ओर दौड़ रही हैं

जीवन-भर की गाँठें औ' जटिल समस्याएँ—

अन्त में कवि अपनी कविता का प्रयोजन भी बताते हैं—

इस लेबोरेटरी में बैठकर

जगत्-भर में शान्ति उपजाने के हेतु

नये किस्म के बीजों का अविर्भाव कर सकते हैं । श्रीदाशरथि की कविता की आग ने तेलझ्राने में सहस्रों ज्वालाओं को धधकाया । कविजी कहीं खेत की मेंड़ पर बैठकर कविता करते नहीं रहे, अपितु भयङ्कर समर-भूमि में कूदकर विप्लव की शङ्खध्वनि की । तेलुगु के प्रसिद्ध अभ्युदयी कवि श्री सी० नारायण रेड्डी, एम्० ए० के शब्दों में— 'भाव-सौष्टव, और भाषा की प्रौढ़ता, के साथ कभी ढीला न होनेवाले जाज्वल्यपूर्ण अमर-साहित्य की सृष्टि में श्रीदाशरथिजी ने आचार्यपीठ को अलङ्कृत किया है । वैयक्तिक रूप से विचार करके देखें, तो ये 'महाकवि' कम अवस्था के प्रतीत होते हैं । परन्तु 'अग्निधारा', 'रुद्रवीणा' काव्यों में प्रतिबिम्बित दाशरथि में मानव को देवता का रूप प्रदान करने-वाली महनीय कला के दर्शन होते हैं । ... ये विज्ञान का कविता के साथ सन्निकट सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं । यही कारण है कि ये न्यूट्रान, एटम, लेबोरेटरी, विद्युत् इत्यादि को काव्य-वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं । आधुनिक आन्ध्र-कवियों में आग के साथ खेलनेवाले अत्यल्प हैं । अग्निगीत, अग्निधारा, अग्निपुष्प, अग्निवल्लिका इत्यादि विचित्र प्रयोग दाशरथि निरत्यप्रति किया करते हैं ।'

दाशरथि के कदम में कदम और स्वर में स्वर मिलाकर आगे बढ़नेवालों में श्री सी० नारायण रेड्डी अग्रगण्य हैं। इन दोनों को कृष्णार्जुन माना जाता है। श्रीनारायण रेड्डी में प्राचीन कविता का नवीन कविता से आँख-मिचौनी खेलनेवाले आवेग, भावना और रीति का अच्छा सङ्गम हुआ है। शब्द-चित्र खींचने में ये बड़े निपुण हैं। आपने भी छन्दों के बन्धनों को तोड़ दिया। आपका कथन है—

छन्दों के बन्धनों से विहीन मेरी बातों को
अमधुर कहकर परिहास करोगे
व्याकरण-मुक्त भाषा में गालियाँ दूँ
तो पूँछ हिलाकर प्रसन्न हो जाओगे।

कवि शान्तिकामी हैं। वे कहते हैं—‘अमृत को पैदा करनेवाले अणु-बीजों से विषपूर्ण मरण-सस्यों को उगानेवाले हे वैज्ञानिक! परमाणु को जलाकर इतिहास को कलुषित न बनाओ। मरुभूमि में आप जो अनुसन्धान कर रहे हैं, उसके परिणाम को हमने देख लिया है। आपने जो अखण्ड विजय प्राप्त की, उसके लिए हम सम्मान-पत्र समर्पित करने को सदा तैयार बैठे हैं।’

‘जीवन की गहराइयाँ’ नामक कविता में कवि बताते हैं —

सङ्कीर्ण भोपड़ियों में
मृत्यु से कुशती लड़नेवाले
तरुण जीवनों के मूल्याङ्कन का
परिशीलन हो तो अच्छा हो !’

आपके कविता-संग्रहों में ‘जलपातम्’ और ‘नागार्जुनसागर’ मुख्य हैं। नागार्जुनसागर में शिल्प और चित्रकला के विशारद पद्म-देव तथा नागार्जुन-विश्वविद्यालय की स्नातिका शान्तिश्री की पुण्यप्रणय-गाथा वर्णित है। इस काव्य में प्राचीन आन्ध्र-वैभव और बौद्ध धर्म की प्रशस्तता पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। यह एक अच्छा काव्य है। इनके गीतों का संग्रह ‘नारायण रेड्डी के गीत’ नाम से प्रकाशित है।

२०३ तेलुगु के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक एवं समालोचक श्रीरामल्लपल्लि अनन्तकृष्ण

शर्माजी के शब्दों में—‘श्रीनारायण रेड्डी ने नागार्जुनसागर काव्य की इस छोटी-सी कथा में विभिन्न घटनाओं और भाव-भेदों को बड़े ही संयम के साथ सुमधुर भाषा में रमणीय भावना भरकर चित्रित किया है।’

तेलङ्गाने के अत्याधुनिक कवियों में ‘अभिनव-पोतन्ना’ नाम से विख्यात श्रीवानमालै वरदाचार्युलु, श्रीपोट्लपल्लि रामाराव, श्रीपल्ला-दुर्गन्था, श्रीभागि नारायणमूर्ति, श्रीबी० रामराजू, गार्लपाटि राघव-रेड्डी, पुलिजाल हनुमन्तराव, भाव नारायणराव, एलचूरि सुब्रह्मण्यम् आदि अनेक कवि अपनी कविताओं द्वारा तेलुगु-भारती को समृद्ध बनाने में योगदान दे रहे हैं।

इधर आन्ध्र में श्रीपट्टाभि ने अपने ‘फिडेल रागाल डजनु’ द्वारा कविता-क्षेत्र में अच्छी क्रान्ति पैदा की। कवि ने छन्दों के बन्धनों के तोड़ने का उद्देश्य बताया है—‘मेरे हृदय में जो आवेग, और आवेश, एवं अभिप्राय हैं, उन्हें व्यक्त करने के लिए छन्दों के बन्धन रुकावट डालते थे। भाव-कविता (छायावादी) से मैं भी ऊब उठा था। एक दिन मैं चाइनाबाजार में चन्द्रमा को देखता रहा, तो प्रथम मेरे भीतर का आवेग वचन (गद्य-रूप)-पद्यों में बहिर्गत हुआ और भाव-कविता के प्रति विद्रोह के रूप में मैंने नया मार्ग अख्तियार किया।’ उसके बाद ही कवि पाश्चात्य रीतियों के सम्पर्क में गये।

कुछ समय पूर्व तीन प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविताओं का संग्रह ‘नयागारा’ नाम से प्रकाशित किया और उसे श्रीअनिशेट्टी सुब्बराव को समर्पित किया। ये तीनों अपनी विशेषताएँ रखते हैं। एक दूसरे में समानता बहुत कम है। तीनों कवि इस प्रकार हैं—श्रीवेल्लमकोण्ड रामदास, श्रीएकचूरि सुब्रह्मण्यम् और कुन्दुति आञ्जनेमुलु। रामदास विप्लववादी हैं, तो सुब्रह्मण्यम् साधु प्रकृति के हैं और आञ्जनेमुलु द्रष्टा स्वभाव के। यह कविता-संग्रह सन् १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ। इन लोगों की कविताओं में मुद्ध की विभीषिकाएँ तथा कृषक-मजदूरों की समस्याएँ वर्णित हैं। इस संग्रह की भूमिका में कवियों ने लिखा है—‘इस काव्य-संग्रह में भूत को जला दिया, नये २०६

जगत् का मार्गदर्शन किया। आगे बढ़ने का आदेश दिया, कँपा दिया, जीवन को विहङ्ग बना दिया। जञ्जीरों को तोड़ने के लिए आग की कैंचियों की सृष्टि की।

इन कवियों के उपरान्त श्रीसोमसुन्दर और राँषा के नाम उल्लेखनीय हैं। दोनों ने भाव-कविता से अभ्युदयी कविता के क्षेत्र में पदार्पण किया है, इसलिए दोनों में प्राचीन और आधुनिक कविता-रीतियों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। श्रीसोमसुन्दर का कथन है—

मुग्धर्म है चैतना है

जन-हृदय ही लड़ाई है।

×

×

कल और आज का प्रयत्न

कल (भविष्य) हो जन्म लेगा

हे मानव ! तुम्हें एक ही जीवन प्राप्त है

मानव न वीर बनकर जीवन बिताओ।

इन कवियों के बाद श्रीरमणारेड्डी का नाम लिया जा सकता है। इनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। 'अडवि' (जङ्गल) में कवि ने भाव की अपेक्षा, भाषा को और शब्द-चयन को अधिक माना। कहीं इन शब्दों के बीच में भाव दबता, दम तोड़ता दिखाई देता है। आधुनिक मानव-जीवन अरण्य-सम दिखाई देते रहने के कारण कवि ने अपने कविता-संग्रह का नाम 'अरण्य' रखा। क्रान्तिकारी मार्क्सवाद का बौद्ध धर्म के साथ सामञ्जस्य जोड़ने का कवि ने असफल प्रयत्न किया। अपनी इन त्रुटियों को सुधारते हुए कवि ने कुछ कविताएँ की। इस प्रयत्न में उन्हें आंशिक सफलता भी प्राप्त है।

आन्ध्र-देश के राष्ट्रीय महासंग्राम का परिचय देनेवाली कविताएँ श्रीगङ्गिनेनि वेङ्कटेश्वरराव ने की हैं। इनका कविता-संग्रह 'उदयिनी' नाम से प्रकाशित है। कवि ने स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया, कठिनाइयाँ भेलीं। उनका अति सहज चित्रण किया। इनके नये

अधिक ध्यान नहीं दिया, पर भाव तथा अलङ्कारों की दृष्टि से कवि को काफी सफलता प्राप्त हुई है।

श्रीरेष्ठाल गोपालकृष्ण ने अपनी कविता 'सङ्घर्षण' नाम से प्रकाशित की। कवि में आत्मविश्वास की भावना अधिक है। वे अपने काव्य को एक 'कल्चर' मानते हैं। कवि कहते हैं—

इस जगत में शोक करनेवाले
पतितों के समस्त प्राण
मेरे गीतों के वृक्षों पर
पक्षी बन विश्राम करेंगे।

इस विश्व में निःसह्य-प्रतिसह्य और असह्य के बीच होनेवाले सङ्घर्ष में कवि सह्य-पताका लेकर प्रयाण करते दिखाई देते हैं।

अभ्युदयी कवियों की श्रेणी में अनेक कवियों को गिना सकते हैं, पर श्रीवैरागीजी इन कवियों के साथ रहते हुए भी अपनी भिन्न विशिष्टता रखते हैं। आप तेलुगु और हिन्दी दोनों में समान रूप से कविता करने की शक्ति रखते हैं। आपका कविता-संग्रह 'नूतिलो गोन्तुकलु' प्रकाशित है। आपने कम किन्तु अच्छा लिखा है। कवि निराशावादी मालूम होते हैं। अब वे आशावादी बनकर आगे बढ़ रहे हैं। अलङ्कारों में आपने कई नये प्रयोग किये हैं। भाषा भावनाओं की अनुगामिनी होती है।

पतित, शोषित एवं ग्राहत व्यक्तियों के चित्रण में श्रीनारपु रेड्डीजी सिद्धहस्त हैं। आपने भिखारी, कृषक, मजदूर इत्यादि समस्त पीड़ित और पद-दलित वर्ग का सफल चित्रण किया है। इस वर्ग के प्रति श्रीनारपु रेड्डीजी के हृदय में अगाध सहानुभूति है। आपके 'अश्रुमाला' तथा 'नावीणा' नाम से दो कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। आप भी निराशावादी कवि हैं। छन्दोबद्ध कविता करने में सिद्धहस्त हैं। पहले आप आशावादी और विप्लववादी थे—

'अकेला मैं मेरे साथ आज,
करोड़ों कूट कङ्काल उठकर
नव्य जीवन-क्रान्ति से चलता रहा

कौन महती शक्ति हमारा सामना कर सकती है ?'

ये ही कवि बाद को लिखते हैं—'जीवन की लड़ाई में थक गया हूँ, हार गया हूँ। मेरे हाथों में कुछ नहीं रहा। वह जिधर खींचे, उधर जा रहा हूँ। मेरे आगे किनारा है, या भँवर ? कौन जाने !'

ग्रामीण जीवन का चित्रण करनेवाली कविताएँ लिखने में श्रीनार्ल चिरञ्जीवि सिद्धहस्त हैं। आपका 'विप्लवात्मा' कविता-संग्रह बहुत समय पूर्व ही प्रकाशित है। सरल सौन्दर्य-चित्रण कवि की सबसे बड़ी विशेषता है। आप अभी बाल-साहित्य के निर्माण में लगे हुए हैं।

श्रीशशाङ्क का 'नया जमाना' सङ्गीतात्मक गीतों का संग्रह है। इसमें विभिन्न विषयों पर रचे गीतों का सङ्कलन है। श्रीशर्वरी में कविता के साथ तत्त्वशास्त्र और यथार्थ जीवन के चित्रण और कल्पना का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। इसके अतिरिक्त श्रीवेमुलपल्लि श्रीकृष्णका 'तेलुगोडा !', श्री चदलुवाड पिच्चय्या का 'आकलिगीतालु', श्रीवट्टिकोण्डवेड्डुट रङ्गप्पा के 'विप्लव-गीत' एवं श्रीतुम्मलवेड्डुट रामय्या, श्रीपुरिपण्डा, श्रीरोणड्डि के गीत तेलुगु-साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं।

उपयुक्त अत्याधुनिक कवियों के अतिरिक्त बहुत समय से काव्य-रचना करते आनेवाले प्राचीन कवि भी अनेक हैं। इस समय विशेषतः भाव-कविता एवं राष्ट्रीयता-सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की कविताएँ भी प्रकाशित हो रही हैं।



तेलुगु-लोकगीतों में सामाजिक भावना

तेलुगु-साहित्य में महाभारत महाकाव्य माना जाता है और नन्नय्या आदिकवि । किन्तु, इनके पहले भी ऐसे कई गीत थे, जो अब भी प्रचलित हैं और जिनमें काव्य के निरुपम गुण हैं, परन्तु उन गीतों से तेलुगु आज भी समृद्ध और प्रतिष्ठित है ।

पाल्कूरि सोमन्ना ने लिखा है—‘भ्रमर-गीत’ (तम्मेद पदालु), तथा ‘चाँद और चाँदनी के गीत’ (चन्द्र वेन्नेल पदालु) यात्री लोग श्रीशैल की यात्रा^१ करते समय गाया करते थे । एक दूसरे सोमन्ना ने इन गीतों का एक रूप निर्धारित करने के लिए लक्षण बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे उसमें असफल रहे । और, यह कहकर उन्होंने सन्तोष की साँस ली कि ‘यतिगणैः यतिर्वा प्राप्सो वा’ । लेकिन वे यह भूल गये हैं कि साधारण गीतों के लिए यति और प्राप्सों का बन्धन ही क्यों ?

साधारणतः, मानव अपने सुख-दुःखों में अपने बोझ को हलका करने के लिए हृदय के सच्चे उद्गारों को स्वेच्छापूर्वक प्रकट कर गाता है । अपनी अनुभूतियों को बाहरी दुनियाँ की मूक शक्तियों में बाँटकर अपने हृदय को हलका करता है ।

गीतों में भले ही यति और गण न हो, उनमें अर्थहीन शब्द भी रह सकते हैं—वे गेय हो सकते हैं—पर उनकी अपनी मधुरता है । लोकगीतों में साधारण परिवार के जीवन का अच्छा चित्र मिलता है । यों तो परिवार के सदस्य स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं, तो भी इस गीत-

१—श्रीशैल एक तीर्थस्थान है । यह आन्ध्र-प्रान्त के कर्नूल जिले में है । यहाँ प्रतिवर्ष माघ मास में मेला लगता है । —ले०

वाङ्मय में स्त्री के लिए एक विशेष स्थान है; क्योंकि स्त्री पारिवारिक क्षेत्र में कुमारी, बहू, माता और सास के रूप में प्रतिष्ठित है, लेकिन पुरुष केवल बाल्यावस्था में आँखों का तारा बनकर लाड़-प्यार से पाला जाता है। बचपन में उसके प्रति इतनी दिलचस्पी दिखाने का कारण माता का लड़के के प्रति पैदा होनेवाला सहज वात्सल्य ही है।

परिवार में माता के रूप में स्त्री की जिम्मेवारी इन लोकगीतों में भली भाँति व्यक्त की गई है। माता अपने बच्चों को लाड़-प्यार से पालती है। उन्हें भूले में डालकर भुलाती हुई अपनी आकांक्षाओं को उस अबोध बच्चे के सामने प्रकट कर मुग्ध हो जाती है। माता की ममता लड़की से अधिक लड़के पर होती है, वह कहती है—

‘कोडुकुल कननि वाल कडुपेमि कडुपु’

अर्थात्, जिस स्त्री ने पुत्र को जन्म नहीं दिया, उसका पेट (गर्भ) भी कोई पेट है ? और स्त्री की कामनाएँ देखिए—

‘तिष्ठेनु तिय दोसपण्डु तिनालि

कष्टेनु कोडुकल काम्पे कनालि

अन्दिते अन्नतो विध्यमन्दालि

आडिते वदिन तो जगडमाडालि’

‘अगर खाना है तो ककड़ी ही खायें, जनना ही है तो पुत्र को ही जन्म दें, पुत्र का सम्बन्ध कायम करना ही है, तो भाई की लड़की के साथ ही हो, और भगड़ा करना ही है, तो भाभी से ही भगड़ा करें।’

पुत्र अपनी माता के लिए एक दीपक है। उसकी तुतली बातें माता के लिए चन्दन की गन्ध से भी अधिक शीतल हैं—

‘इतन्त दीपम्मु इल्लेल्ल वेलुगु

ईश्वरुडि चन्दमामा जगतेल्ल वेलुगु

गोरन्त दीपम्मु कोंडलकु वेलुगु

माइष्टि अब्बाइ माकल वेलुगु’

छोटे दीपक की कान्ति सारे घर को प्रकाशमान बना देती है। जैसे शङ्कर के सिर पर शोभित रहनेवाला चन्द्रमा सारे संसार को रोशनी प्रदान करता है। अन्धकार में छोटे दीपक का प्रकाश ही सभी पहाड़ों को रोशनी देता है। वैसे ही हमारे परिवार का लड़का हमारी आँखों का तारा है।

इस प्रकार, माता कृष्ण तथा ईश्वर के सिर पर विराजमान चन्द्रमा की तुलना अपने पुत्र से करते हुए अपने पुत्र को ही उनके सामने श्रेष्ठ साबित करती है। और, कई ऐसे गीत हैं, जिनमें देवताओं को अपने पुत्र के सेवकों के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ विस्तार के भय से गीत न देकर केवल उनका संक्षिप्त भावमात्र दे रहे हैं।

माता की कल्पना देखिए—अपने पुत्र को सुलाने के लिए कृष्ण गीत गाते हैं, तो ब्रह्मा थपकियाँ देते हैं। कालीमाई दूध पिलाती हैं और शिवजी सुलाते हैं।

माता अपने पुत्र को कैसे गुड़ियों की तरह सजाती है, देखिए—

‘उङ्गरभुलुपेट्टि मुंगुरुलु दुव्वि’

अर्थात्, माता लड़के के घुँघराले बालों को सँवारती है और उसे चूमती, पुचकारती रहती है, तब पिता कहता है—

‘पलक बलपमु लिच्चि पद्यालु पाडि’

तख्ता और स्लेट-पेंसिल देकर पद्य गाते हैं और सिखाते हैं। यदि लड़का उसे नहीं सीखता है, तो उसे मारने में भी पिता सङ्कोच नहीं करते हैं। उस वक्त माता अपनी लड़की की बड़ाई करती है—

‘चदुवष्टे अम्माइ सन्तोष पडुनु

अगसालि रावथ्य नगुलु चेपालि’

पढ़ाई से लड़की बहुत प्रेम करती है। इसलिए हे सोनार ! जल्दी आओ और हमारी लड़की के लिए गहने बनाओ। इससे वह चुप नहीं रहती है—

‘चदुवु को नायना चदुवु को तन्ड्रि
चदुवुकुष्टे नीकु सौख्य मब्बेनु’

हे मेरे लाल ! तू पढ़-लिख । शिक्षा प्राप्त करने से तुझे सुख मिलेगा ।

माता सदा अपने पुत्र की शुभकामना करती दिखाई देती है । वह चाहती है कि उसका पुत्र लक्ष्मी-सम्पन्न हो जाय । लेकिन, वह कभी यह नहीं कहती है कि तू धनवान् बन जा । किन्तु वह अपने उद्देश्य को विविध रूपों में व्यक्त करती है । उसके कहने का ढंग बहुत ही सुन्दर होता है । वह कहती है कि एक दिन उसके पास श्रीलक्ष्मी और वरलक्ष्मी ने आकर पूछा कि हम तुम्हारे पुत्रों में से किससे शादी करें ? तो वह एक सास के रूप में आज्ञा देती है—

‘तूर्पु इष्टलो उन्न पेद बाबुनु पोंदु
पडमष्टिलो उन्न चिन बाबुनु पोंदु
दक्षिण इष्टलो उन्न बुचि बाबुनु पोंदु
उत्तर सिट्लो उन्न चिटि बाबुनु पोंदु’

मेरे चार बेटे हैं—पूरब के घर में बड़ा बेटा है । पश्चिम के मकान में छोटा पुत्र है । दक्षिण के भवन में मँझला है और उत्तर के महल में सबसे छोटा लड़का है । इनमें से किसी से भी शादी कर सकती हो ।

इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि माता को अपनी पुत्रियों पर प्रेम नहीं है । यह कभी सम्भव नहीं; क्योंकि वह स्वयं एक की बेटा है, लेकिन उसकी दृष्टि में लड़की दूसरे घर की बहू है । यह चिन्तन उसे अधिक प्रेम दिखाने से रोकता है, इसलिए वह वे सब बातें समझती है, जिनका ससुराल जाने पर पालन करना आवश्यक है । वहाँ नारी का मातृ-रूप और गुरु-रूप प्रकट होता है । अतः, पुत्र के प्रति जो अनुराग और वात्सल्य दिखाया जाता है, वह २१० पुत्री के लिए सम्भव नहीं है । उसे तो रसोई बनाना, गृहस्थी

सँभालना आदि की शिक्षा देती है, ताकि पुत्री को ससुराल में नीचा न देखना पड़े।

तेलुगु-साहित्य में कहीं भी सास और बहू का माला में रस्सी के नाते का सम्बन्ध नहीं दिखाया गया। सास का बहू पर हुक्मत चलाना और बहू बेचारी का आँसू बहाना ही देखा जाता है। इन दोनों के बीच बकरी और बाघ का ही सम्बन्ध बना रहता है। छोटा-सा उदाहरण देखिए—

‘कोडला कोडला कोडुकु पेल्लामा
पच्चिपालामीद मीगल्लु एवि
वेडिपाल मीद वेलन्नु एवि
नूनमुन्तल मीद तुरगल्लु एवि’

हे पुत्र की पत्नी बहू ! कच्चे दूध पर की मलाई कहाँ है और गरम दूध पर का मक्खन क्या हो गया ?

इसका उत्तर बहू नहीं देती है। परन्तु; सास को इससे तृप्ति नहीं होती, वह अड़ोस-पड़ोसवालों को बुलाकर ढिंढोरा पीटती है।

यहाँ बहू विनयशील श्रद्धा की मूर्ति नहीं, किन्तु उसका विश्वास है कि सास की शक्ति के सामने झुकने का आदेश समाज ने दिया है। अतः, उसकी आज्ञा का पालन करना बहुओं का परम कर्तव्य है। इसलिए, जब वह सास बनती है, तब अपनी बहू पर हुक्मत चलाने की सोचती है। इसलिए, यह कहावत प्रचलित है—

‘अत्तलुलेनि कोडलुत्तमूरालु
कोडलू लेनत्त गुणवन्तुरालु’

अर्थात्, जिसकी सास नहीं है, वह बहू भाग्यशालिनी है, और जिसकी बहू नहीं है, उस सास को भी गुणवती मानना होगा।

बहुधा बहुएँ तो सासों पर कम ही हुक्मत चलाती हैं। अक्सर ससुराल में कठिनाइयाँ भोगनेवाली बहुओं की संख्या ही अधिक है।

साधारणतः, ससुरालवालों को यह कहते सुनते हैं कि दहेज कम लाई हो, कपड़े-लत्ते, बरतन आदि क्यों नहीं लाती ? गाय, भैंस २११

आदि की आशा रखते हुए भगड़ा करने की परिपाटी-सी हो चली
बहू के शरीर पर की साड़ी फटी नहीं कि सास कहने लगेगी—

‘वैसविकालं वच्चे वलवल्लु चिरिगे
वनिय नी पुट्टिटि वारेल राह
मारुकालं वच्चे मडतलू चिरिगे
मगुव नी पुट्टिटिवारेल राह’

‘गरमी के दिन आ गये। कपड़े सभी फटते जा रहे हैं, लेकिन
अभी तक तुम्हारे मायके से कोई नहीं आया?’

ससुराल से जब अपनी बहन को ले जाने के लिए भाई आता है,
तब उसको देखकर वह खुश हो जाती है। उसे सदा इस बात
की आशङ्का बनी रहती है कि ससुरालवाले उसे मायके भेजेंगे कि
नहीं, इसलिए वह अपने भाई को पैर धोने के लिए पानी देती है
और आँखों में आँसू भरती है। भाई बहन को समझाता है कि सास
और ससुर से आज्ञा लो। वह जाती है आज्ञा लेने। सास कुर्सी पर
बैठी रहती है। सास से पूछती है—

‘कुर्सीपीट मीद कूर्चुन्न अत्ता
मा अन्न लोचाह मंबंपुतारा’

हे सास ! मेरे भाई आये हैं। मुझे मायके भेजिए। सास जवाब
देती है कि मैं कुछ नहीं जानती, अपने ससुर से पूछो। इस प्रकार तंग
करने की परम्परा है।

यह मानी हुई बात है कि औरतों का मायके के प्रति अधिक
ममता रहती है। इस भाव को स्वयं बहू व्यक्त करती है—

‘काशि केडदामण्टे कदलवे काल्लु
डिल्लि केडदामण्टे तिरगदे मनसु
दूरान पुट्टिष्टि केडदाम अण्टे
ना कालु पन्नना रथमुलै नडचु

अर्थात्, काशीजी जाने की इच्छा करने पर भी चलने को पैर
२१२ साथ नहीं देते। दिल्ली जाने को मन नहीं मानता है। किन्तु मायका

उससे दूर भी क्यों न हो, जाना चाहूँ, तो मेरे पैर रथ के पहिये बनकर चलने लगते हैं। मायके जाने की जो बलवती इच्छा बहू में होती है, उसे सफल न होते देख वह नारी-जन्म को ही अभिशाप मानती है। कहती है—

‘एन्नेत्रि जन्मालु एत्तिना कानि
ई आड जन्ममु इक नेत्तरादु
आडविलो वृक्षमै अट्लुष्टे मेलु’

अगर पुनर्जन्म मेरे भाग्य में हो, तो सृष्टि के और विभिन्न जितने भी जन्म हैं, उन सब को धारण कर सकती हूँ, परन्तु नारी होकर पैदा नहीं होना ही अच्छा है। इस प्रकार स्त्री का जन्म लेकर संसार में केवल कठिनाइयाँ ही भोगना है, तो जङ्गल का एक वृक्ष बनकर पैदा होना कहीं अच्छा।

इस प्रकार, नारी-जीवन का मार्मिक चित्र इन लोकगीतों में मिलता है। अब इसका एक और पहलू देखिए।

सवेरा हो गया है। पतिदेव अभी तक सोये हुए हैं। पत्नी जगाती है—

‘चुक्क तेल्लवारे तूर्पु तेल्लवारे
बूरुग पूर्चिदि बासवनमु लोन
कलुवल चेलोंकि नील्लु चेरायी
काल्लु कडुग मीकु वेलाय लेडि’

तारे छुप गये हैं। पूरब में लालिमा छाई हुई है। शाल्मलि-वृक्ष में फूल विकसित हुए हैं। कुमुदों के तालाब में पानी भर गया है, और तुम्हारे पैर धोने का भी समय हो चला है। अतः, उठ जाओ।

कभी-कभी पत्नी अपने पति को चिढ़ाना चाहती है। अतः, उनके सामने अपने भाइयों की प्रशंसा करती है। उनकी प्रशंसा सुनते-सुनते पति से रहा नहीं जाता है। इसलिए वह पूछ बैठता है—

‘अन्नलिन पाडेवु, तुम्मुलिन पाडेवु
नन्ने पाडेवे ?’

तुमने अपने भाइयों की प्रशंसा की और सदा करती रही हो । लेकिन तुमने कभी मेरी बड़ाई नहीं की, क्या बात है ? तो वह अपने भोलेपन को व्यक्त करती हुई जवाब देती है ।

‘एमनि पाडेदि वेरिमाधवुडा !’

हे मेरे पागल कृष्ण ! मैं तुम्हारे सम्बन्ध में क्या गाऊँ । क्योंकि, तुम निरे भोले हो । इन वाक्यों से वह पति का परिहास करती है ।

गृहलक्ष्मी अपने प्रेम-साम्राज्य को शीतल बनाती हुई पतिदेव की हित-चिन्ता करती है । यहाँ तक कि बच्चे को सुलाते समय गानेवाली लोरियों में भी पति की मङ्गल-कामना करती है । यह एक अच्छा उदाहरण है—

‘निद्रपो बलभद्र राजकुमार

निद्रक् नूरेल्लु नीकु नूरेल्लु’

हे मेरे राजकुमार ! सो जा । सो जा । नींद को और तुझे भी एक सौ वर्ष की आमु हो !

इस गीत में बलभद्र का भी नाम लिया गया है । बलराम के पुत्र को वह सुला रही है । यहाँ भी पतिदेव का स्मरण करके उन पर आशीर्वर्षा करती है ।

अगर वह किसान-परिवार की स्त्री है, तो भगवान् से प्रार्थना करती है कि वह पानी बरसावें । यहाँ उस नारी का निवेदन भक्त का (भगवान् के प्रति) नहीं, बल्कि भगवान् से अपना रिश्ता जोड़कर पूछती है—

‘वान देवुड नीकु वरुस चेलेल्लिनि

वर्षालु कुरिपिच्च वरिमल्ललोन’

हे वरुणदेव ! मैं रिश्तेदारी में तुम्हारी बहन लगती हूँ । इसलिए, तुम मेरे धान के खेतों में पानी बरसाओ ।

यहाँ हम नारी का विशाल रूप और सरल हृदय के दर्शन करते हैं । यह रहा नारी का देवी-रूप । अगर वह किसी कारणवश

२१४ नाराज हो जाती है, तो देवी से दुर्गा बन जाती है ।

किसी पराये पुरुष ने एक स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध जोड़ना चाहा, तो वह कहती है—

‘वरुसगानी वार्नि वरुसाड बोते
पुरुषुडा नीशिरसु धरणि कोरिगेनी
कानिवर्नि नीवु काराड बोते
कामुडा नीशिरसु काटि कोरिगेनी’

हे पुरुष ! तुम पराई स्त्री को अनुचित रीति से अपनी बनाना चाहते हो, सतर्क रहो, होश में आ जाओ, वरना तुम्हारा सिर धड़ से अलग होकर पृथ्वी पर गिरेगा। ये कामी ! पराई नारियों को तुम अपने काम का शिकार बनाने का दुस्साहस करोगे, तो तुम्हारा सिर कब्रिस्तान (मरघट) के दर्शन करेगा, ध्यान रखना। नारी-हृदय का अच्छा चित्र हमें इन गीतों में मिलता है।

इस प्रकार, संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार आदि सभी विषयों का समीचीन चित्रण लोकगीतों में पाया जाता है।



